ओ३म्

मानव-शरीर और जीवात्मा

लेखक :

श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती

सम्पादक :

पण्डित श्री राम कुमार आर्य पुरोहित

प्रकाशक ।

आर्य युवक सभा लुधियाना

आर्य युवक सभा के पदाधिकारी एवं सदस्य

बाएं से दायें कुर्सियों पर बैठे हुए :

श्री सुधीर भाटिया (भूतपूर्व प्रधान), श्री रोशन लाल शर्मा (प्रधान), पं० श्री राम कुमार आर्य (उपदेशक), श्री महेन्द्र प्रताप आर्य (महामन्त्री), श्री सुरेन्द्र जी आर्य (कोषाध्यक्ष)

पीछे खड़े कार्यकर्ता :

सदस्य—श्री यशपाल आर्य, श्री सुरेश चड्ढा, श्री जगदीश शर्मा
श्री अरूण कुमार शर्मा, श्री राजेन्द्र बत्रा

ओ३म्

मानव शरीर और जीवात्मा

लेखक :

श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती

सम्पादक :

पण्डित श्री राम कुमार आर्य पुरोहित

प्रकाशक :

आर्य युवक सभा, लुधियाना

सत्य-सहयोग : पाँच रुपए

पुस्तक : मानव शरीर और जीवात्मा

लेखक : श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती

सम्पादक : पण्डित श्री राम कुमार आर्य पुरोहित
आर्य समाज मन्दिर,
फील्ड गंज, लुधियाना।

प्रकाशक : आर्य युवक सभा,
B-X-७५१, सिविल हस्पताल रोड,
लुधियाना-१४१००८

मुद्रक : आत्म जैन प्रिंटिंग प्रैस
३५०, इण्डस्ट्रियल एरिया-ए,
लुधियाना-१४१००३

प्रकाशन वेला : आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा सं० २०४१

संस्करण : प्रथम

प्रतियां : एक हजार

सम्पादकीय वक्तव्य

O

आर्य विद्वानों में इस विषय पर मतभेद चला आ रहा है कि मानव-शरीर में आत्मा का स्थान छाती वाले हृदय में है या शिरस्थ हृदय में ? इस आध्यात्मिक समस्या को सुलझाने का महान् प्रयास श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती ने प्रस्तुत पुस्तक में किया है। महर्षि दयानन्द जी ने भौतिक प्रसंग में हृदय शब्द का अर्थ जहां वक्षस्थल में रक्त - प्रक्षेपक हृदय माना है, वहीं पर आध्यात्मिक प्रसंगों में हृदय शब्द के अर्थ किये हैं— शिरस्थ हृदय, मन, बुद्धि, अन्तःकरण आदि। श्रद्धेय श्री स्वामी जी ने मेरी व अन्य सज्जनों की प्रार्थना को स्वीकार कर इस विषय पर यह पुस्तक लिखने की महती कृपा की है।

प्रस्तुत पुस्तक श्री स्वामी जी ने समय-समय पर तीन भागों में लिखी है। मैंने इन तीनों भागों को ज्यों का त्यों ही इस पुस्तक में प्रकाशित करा दिया है। अति वृद्धावस्था में भी श्री स्वामी जी के द्वारा किया गया यह महाप्रयास सर्वथा अभिनन्दनीय है।

इस पुस्तक के प्रथम भाग में आर्य समाज के नियम तथा वेदादि को आधार बनाकर आत्मा के स्थान को हृदय में दिखाया गया है और श्री स्वामी जी ने सिद्ध किया है कि ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उपनिषदों के प्रमाणों का हिन्दी अर्थ किसी पौराणिक पण्डित के द्वारा लिखा गया प्रतीत होता है। इस प्रक्षिप्त हिन्दी

विवरण से ही आर्यों में यह भ्रान्ति फैल गई है कि आत्मा का स्थान छाती प्रदेश में ही है।

दूसरे भाग में श्री स्वामी जी ने लक्षण और प्रमाणों के द्वारा अपने पक्ष को प्रमाणित किया है और आत्मा के स्थान का लक्षण बताया है कि वहां से ही मुख्य एक सौ एक नाड़ियां निकलती हैं। नाड़ी-विज्ञान के विस्तृत विवेचन के बाद प्रत्यक्ष विज्ञान के द्वारा भी नाड़ियों का केन्द्र एवं हृदय शिर में ही सिद्ध किया है। इसी भाग में व्याकरण द्वारा भी जीव व आत्मा शब्द का विवेचन प्रस्तुत हुआ है तथा उपनिषद् भाष्य पर श्री भीमसेन शर्मा के विचारों की भी युक्ति-युक्त समीक्षा की गई है।

पुस्तक के तीसरे भाग में इस विषय पर आर्यों में चल रहे दोनों पक्षों को लेकर प्रमाणों आदि के द्वारा वास्तविक तथ्य को सिद्ध किया गया है। श्री स्वामी जी ने अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों द्वारा भी इस विषय के कुछ लेखों के आधार पर इसी पक्ष को कई प्रकार से प्रमाणित किया है कि "जीवात्मा का स्थान शिरोभाग में ही है।"

निष्पक्ष पाठकों से यही आशा और विश्वास रखता हूं कि वे सत्य को ग्रहण करते हुए इस विषय पर मतैक्य स्थापित करके श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती जी के परिश्रम को सफल करेंगे।

प्रकाशकीय

पांच सहस्त्र वर्ष पूर्व महाभारत के भयानक युद्ध के कारण यहां देश और धर्म की भारी अवनति हुई। धर्म की जगह अनेक बुराइयां पैदा हुईं और विभिन्न मत-मतान्तरों का प्रादुर्भाव हुआ। वेद-ज्ञान के अभाव में आत्म-तत्त्व की खोज व आत्मा के उत्थान की बातें विलीन हो गईं। शारीरिक सुख को लक्ष्य मान कर जड़ प्रकृति की पूजा की जाने लगी। कई सदियां इस घोर पतन में बीत गईं तभी ईश-अनुकम्पा से एक पावनतम आत्मा ने भारत में जन्म लेकर आत्मा, परमेश्वर और वेदों की खोज के लिये गहन प्रयास किये। आत्मोत्थान के सतत प्रयास करते हुए परमेश्वर का साक्षात्कार किया तथा वेदों के गहन रहस्यों को जानकर ऋषिवर ने मानव-कल्याण के लिए प्रकट किया। उसी महान ऋषि दयानन्द ने वैदिक ज्ञान के प्रचार व प्रसार के लिए आर्य समाज रूपी मंगलमयी संस्था की स्थापना की।

महर्षि दयानन्द ने आत्मा, परमात्मा व प्रकृति सम्बन्धी सभी सत्य सिद्धान्तों का प्रकाश स्व-रचित ग्रन्थों में कर दिया तथा वेदादि धर्म-ग्रन्थों के प्रमाण सहित बहुत कुछ लिख दिया। परन्तु महान् आश्चर्य की बात है कि आर्य समाज ने एक शताब्दी के समय में भी कई महत्त्व-पूर्ण विषयों में आज तक एक मत स्थापित नहीं किया है। ऐसा ही एक विषय उलझा रहा है, "शरीर में आत्मा का स्थान कहां है ? जहां परमात्मा की प्राप्ति

हो सके।" हम आर्य बन्धु यदि आत्मा की खोज जैसे महत्त्वपूर्ण विषय को हल नहीं कर पाये तो फिर संसार का कल्याण कैसे कर पायेंगे ? जो कि आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य बताया गया है।

विद्वान् लेखक श्री स्वामी पूर्णानन्द जी ने प्रस्तुत समस्या का अत्यन्त सार-गर्भित ढंग से समाधान किया है। इसके लिये मैं पूज्य श्री स्वामी जी की दीर्घायु की कामना करते हुए हृदय से उनका अत्यन्त आभार प्रकट करता हूं, साथ ही मैं उन दानी महानुभावों का भी धन्यवाद करता हूं जिन्होंने इस आध्यात्मिक पुस्तक के प्रकाशन में आर्थिक सहायता प्रदान की है।

मैं आदरणीय पण्डित श्रीराम कुमार जी आर्य,(पुरोहित आर्य समाज, फील्ड गंज) का धन्यवाद करना भी अत्यावश्यक मानता हूं जिन्होंने प्रस्तुत पुस्तक का न केवल सम्पादन ही किया है,बल्कि धन भी एकत्रित करके सभा को दिया, उनका परिश्रम सराहनीय रहा है। श्री तिलकधर शास्त्री (सम्पादक आत्म-रश्मि, लुधियाना) जी ने मुद्रण एवं संशोधन में हमें अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, इसके लिये उनका भी मैं आर्य युवक सभा की ओर से आभारी हूं।

हम आर्य युवकों का साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रचार कार्य का यह प्रथम ही प्रयास है। इसलिए प्रयत्न के बाद भी यदि कोई त्रुटि नजर आये तो पाठक जनों से क्षमा प्रार्थना करते हुए यही आशा करता हूं कि पाठक जन अपने बहुमूल्य सुझाव देकर हम युवकों को प्रोत्साहित करेंगे। इसी विश्वास के साथ यह पुस्तक धर्म - जिज्ञासुओं की सेवा में समर्पित कर रहा हूं।

—रोशनलाल आर्य

प्रधान—आर्य युवक सभा, लुधियाना

हो सके।" हम आर्य बन्धु यदि आत्मा की खोज जैसे महत्त्वपूर्ण विषय को हल नहीं कर पाये तो फिर संसार का कल्याण कैसे कर पायेंगे ? जो कि आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य बताया गया है।

विद्वान् लेखक श्री स्वामी पूर्णानन्द जी ने प्रस्तुत समस्या का अत्यन्त सार-गर्भित ढंग से समाधान किया है। इसके लिये मैं पूज्य श्री स्वामी जी की दीर्घायु की कामना करते हुए हृदय से उनका अत्यन्त आभार प्रकट करता हूं, साथ ही मैं उन दानी महानुभावों का भी धन्यवाद करता हूं जिन्होंने इस आध्यात्मिक पुस्तक के प्रकाशन में आर्थिक सहायता प्रदान की है।

मैं आदरणीय पण्डित श्रीराम कुमार जी आर्य,(पुरोहित आर्य समाज, फील्ड गंज) का धन्यवाद करना भी अत्यावश्यक मानता हूं जिन्होंने प्रस्तुत पुस्तक का न केवल सम्पादन ही किया है,बल्कि धन भी एकत्रित करके सभा को दिया, उनका परिश्रम सराहनीय रहा है। श्री तिलकधर शास्त्री (सम्पादक आत्म-रश्मि, लुधियाना) जी ने मुद्रण एवं संशोधन में हमें अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, इसके लिये उनका भी मैं आर्य युवक सभा की ओर से आभारी हूं।

हम आर्य युवकों का साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रचार कार्य का यह प्रथम ही प्रयास है। इसलिए प्रयत्न के बाद भी यदि कोई त्रुटि नजर आये तो पाठक जनों से क्षमा प्रार्थना करते हुए यही आशा करता हूं कि पाठक जन अपने बहुमूल्य सुझाव देकर हम युवकों को प्रोत्साहित करेंगे। इसी विश्वास के साथ यह पुस्तक धर्म - जिज्ञासुओं की सेवा में समर्पित कर रहा हूं।

—रोशनलाल आर्य

प्रधान—आर्य युवक सभा, लुधियाना

श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती

(वानप्रस्थ अवस्था में)

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक एवं प्रसिद्ध वेदज्ञ

आर्य-विद्वान

लेखक का परिचय

०

श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती सत्यव्रती, निर्भीकता के प्रतीक, स्पष्ट वक्ता, प्रमुख स्वतन्त्रता सेनानी तथा वैदिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आपका जन्म सन् १६०० ई० में ग्राम बूढ़पुर जिला मेरठ में हुआ। हाई-स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करके आप पुलिस में सब-इन्सपैक्टर नियुक्त हुए।

सन् १६२१ ई० में महात्मा गांधी के आह्वान पर आप पुलिस की नौकरी छोड़ कर स्वाधीनता-संग्राम में कूद पड़े और कालान्तर में आपने जिला रोहतक के खरैटी गांव में एक विद्यालय की स्थापना की।

सन् १६२५ ई० में आपका विवाह श्रीमती यशोदादेवी के साथ हुआ। आप हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, अरबी आदि कई भाषाओं के ज्ञाता हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब के आप २५ वर्षों तक महोपदेशक रहे हैं।

आप स्वाधीनता-संग्राम में अग्रणी बनकर रहे व नमक सत्याग्रह में कूद कर परिवार सहित जेल गये। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने निजामशाही के अत्याचारों के विरुद्ध लोगों को तैयार करने के लिए आपको हैदराबाद भेजा। सैकड़ों सत्याग्रहियों के साथ आप औरंगाबाद जेल में रहे। सन् १६४४ ई० में पुनः आर्य प्रतिनिधि सभा ने आपको हैदराबाद में प्रचारार्थ भेजा। आपके प्रचार से जब निजाम की गद्दी डोलने लगी तो

आपको गिरफ्तार करके रियासत से बाहर निकाल दिया गया और रियासत में प्रवेश पर भी पाबन्दी लगा दी गई।

सन् १९३०-३१ में कश्मीर में हिन्दुओं के विरुद्ध मुस्लिम आन्दोलन की आंधी से आतंकित लोगों को प्रोत्साहित कर उन का निर्भयता पूर्वक सामना करने के लिए आपने वहां जाकर उन लोगों को तैयार किया। आप शुद्धि-आन्दोलन तथा अछूतोद्धार के प्रबल समर्थक रहे हैं। एक मुस्लिम परिवार की शुद्धि करके उनके साथ विवाह-सम्बन्ध जोड़कर आपने व आपके परिवार ने एक आदर्श प्रस्तुत किया।

सन् १९४५ ई० में 'बागपत' के नवाब को सर की उपाधि से सम्मानित किया गया, क्योंकि उसने अंग्रेजी सरकार की मदद की थी। तत्सम्बन्धी एक समारोह जो बड़ौत कस्बे के एक जनता वैदिक कालेज में होना था, आपने पूरे क्षेत्र में आन्दोलन करके वह समारोह नहीं होने दिया। सन् १९४८ ई० में एक हरिजन सभा को सम्बोधित करते हुए आपको छपरौली (मेरठ) में गिरफ्तार किया गया। आपका प्रारम्भिक नाम पूर्णचन्द्र आर्य था।

१८ जुलाई सन् १९७१ ई० को आपने संन्यास ग्रहण किया और संन्यासी बनने के पश्चात् आपका नाम श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती प्रसिद्ध हुआ।

आपके विषय में कई आर्य विद्वानों की सम्मतियां उन उदात्त गुणों की अभिव्यक्ति करती हैं जो आपके जीवन में विद्यमान रहे हैं। डा० भवानीलाल भारतीय ने आपको महर्षि दयानन्द के जीवन-वृत्त का 'मर्मज्ञ' विद्वान् कहा है। महर्षि दया-

नन्द के जीवन के तथ्यों से आपका घनिष्ठ परिचय जानकर ही प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु (अबोहर वाले) ने दयानन्द सन्देश के दिसम्बर १९८३ के अंक में प्रकाशित एक लेख में आपके विषय में लिखा है--

"मुझे हर्ष है कि ऋषि-जीवन पर एक अत्यन्त अधिकारी विद्वान् ने आदित्यपाल सिंह जी की रचना पर बड़ी योग्यता से समीक्षात्मक तथ्यपूर्ण लेखनी चलानी प्रारम्भ की है।"

जिन दिनों आप आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के महोपदेशक थे उन दिनों सभा के प्रधान महाशय कृष्ण जी ने अन्तरंग सभा के एक प्रसंग में कहा था कि—"हमें गर्व है कि आज भी हमारी सभा में पण्डित लेखराम जी की तरह उच्च परम्पराओं व आदर्शों से युक्त श्री पूर्णचन्द्र जो शास्त्री जैसे आर्योपदेशक हैं। आप जीवन भर आर्य सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में लगे रहे। आपने अपना एक आदर्श परिवार बनाकर समाज के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया। आपने ८५ वर्ष के अपने जीवन में वर्णाश्रम धर्म का पूर्णतः पालन किया है।

आप महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त व आर्य-समाज के सजग प्रहरी बन कर रहे हैं। जहां भी आर्य सत्य-सिद्धान्तों की उपेक्षा हुई वहां स्वभावतः आप चिन्तित हुए तथा परिपक्व ज्ञान व अथक परिश्रम के द्वारा उन सिद्धान्तों की रक्षा में पूर्ण शक्ति लगाई। इसी के परिणाम स्वरूप कई पुस्तकें आपने लिखीं व अपने ही धन से प्रकाशित कराकर उनका निशुल्क वितरण किया, क्योंकि आपके जीवन का उद्देश्य सत्य सिद्धान्तों का प्रचार मात्र रहा न कि धन कमाना। आपकी उन प्रकाशित पुस्तकों का विवरण इसी पुस्तक के अन्त में प्रकाशित किया गया है।

आज भी इतनी वृद्धावस्था में आर्ष ग्रन्थों के स्वाध्याय और आर्य सिद्धान्तों के लेखन में स्वामी जी का परिश्रम देखकर हम आश्चर्य चकित रह जाते हैं। अपने जीवन में स्वामी जी की मुख्यतम विशेषता यह रही है कि आप अनुचित प्रकार से समझौता करके किसी भी प्रकार की लौकैषणा के इच्छुक नहीं रहे। सत्य का प्रतिपादन करने में आपने कभी कोई रियायत नहीं की, अतः अनेक लोगों की आपसे नाराजगी भी हुई।

मैं जब से आर्य समाज से परिचित हुआ हूं तथा जो कुछ भी आर्य-सिद्धान्तों को जान पाया हूं वह सब आपकी ही कृपा व सद्प्रेरणा का फल है जिसके लिये मैं आजीवन आपका कृतज्ञ रहूंगा।

कई वर्षों तक आपके अति निकट सम्पर्क में रहने से आपके जीवन के अनेक गुण मेरे हृदय-पटल पर अंकित हैं, परन्तु आपकी रुचि व स्वभाव को जानते हुए मैं आपके विषय में और अधिक लिखने में संकोच कर रहा हूं।

प्रभु से आपकी आयु व स्वास्थ्य की प्रार्थना करते हुए मैं भी आपके उदात्त गुणों का कुछ अंश जीवन में ग्रहण करने की अभिलाषा रखता हूं, आपकी कृपा एवं आशीर्वाद उस अभिलाषा को अवश्य पूर्ण करेंगे इसी विश्वास के साथ—

—राम कुमार आर्य (पुरोहित)

ओ३म्

मानव-शरीर और जीवात्मा

मानव शरीर में जीवात्मा का स्थान

मानव-शरीर में जीवात्मा के स्थान को जानने की रुचि अधिकतर आर्य समाजी सज्जनों में ही देखी जाती है। इसका कारण यह है कि आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी ने आर्य लोगों को आर्य समाज के दस नियमों का पालन करना अनिवार्य बतलाया है। उन दस नियमों में से तीसरा, चौथा, पांचवां और सातवां नियम ऐसे हैं जिनमें सत्य को जानने की अभिरुचि और सत्य के आधार पर ही अपने सब काम और व्यवहार का करना आर्यत्व का चिह्न माना गया है।

सत्यता का परम कोष चार वेद हैं। उनके लिए ऋषि ने तीसरे नियम में कहा है—

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

चौथे नियम में कहा गया है कि "सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने के लिये सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।"

पांचवें नियम में कहा गया है कि "सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।"

सातवां नियम यह है कि "सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।"

जीवात्मा को शरीर में खोजने के लिये भी इन्हीं नियमों का पालन करना आवश्यक है। अपने किसी आग्रह को लेकर आत्मा के निवास-स्थान का निर्णय करना आर्यों के लिये उचित नहीं है। महर्षि दयानन्द के अनुसार सब आर्यों को वेदों में कही सब सत्य विद्याओं को मान कर इस विषय में एक-मत होना चाहिये।

महर्षि मनु ने भी इसी सच्चाई का समर्थन किया है। मनुस्मृति के अध्याय २ श्लोक ६ में लिखा है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

—मनु० २।६

अर्थात् सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है और वेदों के जानने वालों की स्मृति, शील, साधु पुरुषों का आचरण और अपनी आत्मा की तुष्टि भी धर्म का मूल है।"

इसलिए सत्य के (धर्म के) मूल को वेद में ही खोजना चाहिये और जानना चाहिए कि मानव-शरीर में आत्मा का निवास कहां है?

अथर्व वेद के दसवें काण्ड के आठवें सूक्त का ऋषि कुत्स है। इसका देवता (विषय) आत्मा है। इस सूक्त में ४४ मन्त्र हैं। नवम मन्त्र में लिखा है—

पांचवें नियम में कहा गया है कि "सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।"

सातवां नियम यह है कि "सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।"

जीवात्मा को शरीर में खोजने के लिये भी इन्हीं नियमों का पालन करना आवश्यक है। अपने किसी आग्रह को लेकर आत्मा के निवास-स्थान का निर्णय करना आर्यों के लिये उचित नहीं है। महर्षि दयानन्द के अनुसार सब आर्यों को वेदों में कही सब सत्य विद्याओं को मान कर इस विषय में एक-मत होना चाहिये।

महर्षि मनु ने भी इसी सच्चाई का समर्थन किया है। मनु-स्मृति के अध्याय २ श्लोक ६ में लिखा है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

—मनु० २।६

अर्थात् सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है और वेदों के जानने वालों की स्मृति, शील, साधु पुरुषों का आचरण और अपनी आत्मा की तुष्टि भी धर्म का मूल है।"

इसलिए सत्य के (धर्म के) मूल को वेद में ही खोजना चाहिये और जानना चाहिए कि मानव-शरीर में आत्मा का निवास कहां है?

अथर्व वेद के दसवें काण्ड के आठवें सूक्त का ऋषि कुत्स है। इसका देवता (विषय) आत्मा है। इस सूक्त में ४४ मन्त्र हैं। नवम मन्त्र में लिखा है—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्,
तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सप्त साकं,
ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥

इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार से किया गया है—

एक (तिर्यग् बिल) तिरछे मुख और (ऊर्ध्व-बुध्नः) ऊपर को पेन्दे वाला (चमसः) चमस है। (तस्मिन्) उसमें (विश्वरूपम्) नाना रूप (यशः) भूतिमान् बल (निहितम्) रक्खा है। (तत्) वहां उस शक्तिमान् आत्मा में (सप्त ऋषयः) सात ऋषि द्रष्टा, सात शीर्षगत प्राण (साकम्) एक होकर (आसत) विराजते हैं। (ये) जो (अस्य महतः) इस महान् आत्मा के (गोपाः) रक्षक या द्वारपाल के समान उसको आवरण किये हुए या घेरे हुए (बभूवुः) हैं।

शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है—

अर्वाग् बिलश्चमस उर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एव ह्यर्वाग्बिलश्चमस उर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपं—प्राणा वै यशो विश्वरूपं तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे। प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह।"

बृहदारण्यक अ०२/२/३/४

यह शिर वह 'चमस' वा पात्र है जिसका बिल मुख एक तरफ तिरछे खुला है और पैन्दा—कपाल ऊपर है। उसमें यशोरूप प्राण रखे हैं। उस पात्र के किनारे-किनारे सात ऋषि, सात प्राण, दो कान—गौतम और भारद्वाज, दो चक्षु—विश्वामित्र और जमदग्नि, दो नासिका—वशिष्ठ और कश्यप और मुख अत्रि, ये सात ऋषि विराजते हैं जो इसके (आत्मा के) 'गोपा' पहरेदार

हैं और उसको घेरे हुए हैं।" भाष्यकार जयदेव विद्यालंकार शर्मा

यह अथर्व वेद का प्रमाण है जिसको स्वीकार करना प्रत्येक आर्य का परम धर्म है। इस मन्त्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक उपनिषद् के ऋषि ने की है जिसमें जीवात्मा का निवास-स्थान स्पष्ट रूप से शिर को ही बतलाया गया है और इस आत्मा के पहरेदार या सेवक के रूप में सात इन्द्रियों का स्थान भी 'शिर' को ही बतलाया है। इस सिद्धान्त की पुष्टि अथर्ववेद के और प्रमाणों से भी की जा सकती है। उनको भी देखिये।

अथर्व वेद के दशम काण्ड में ही एक सूक्त है जिसका नाम है "केन सूक्त"। यह सूक्त इस काण्ड का दूसरा सूक्त है। इस सूक्त में ३३ मन्त्र हैं। इस सूक्त का ऋषि (द्रष्टा) नारायण है।

इस सूक्त का 'देवता' अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'पुरुष' है अर्थात् इसमें पुरुषदेह की रचना और उसके कर्ता पर विचार किया गया है। यह विचार प्रश्नोत्तर के रूप में हुआ है।

इस सूक्त का आरम्भ 'केन' शब्द से होता है। 'केन' शब्द के दो अर्थ होते हैं—पहला अर्थ 'किससे', यह सर्वनाम-संज्ञक 'किम्' शब्द की तृतीया विभक्ति के एक वचन का प्रश्नात्मक रूप है और दूसरा अर्थ 'क वै प्रजापतिः' क प्रजापति का नाम है। उस शब्द का भी तृतीया विभक्ति में 'केन' रूप बनता है जिसका अर्थ 'परमात्मा से' है और यही प्रश्न का उत्तर है। पहला मन्त्र इस प्रकार है—

केन पार्ष्णी आभृते पुरुषस्य,
केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।

केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि,
केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ।

—१०।२।१

भाष्य—(पुरुषस्य) पुरुष अर्थात् मनुष्य या प्राणी की देह के (पार्ष्णी) दोनों एड़ियां (केन) किसने (आभृते) बनाई हैं ? और (मांसं) मांस (केन) किसने (संभृतं) देह में अच्छी तरह लगाया है ? (गुल्फौ केन) दोनों टखने किसने लगाये हैं ? (पेशनीः) पोरुओं वाली नाना अवयवों से युक्त (अङ्गुलीः केन) अङ्गुलियां किसने जोड़ दी हैं ? (खानि) गुदा आदि छिद्र (केन) किसने बनाये (उत् श्लङ्खौ) दोनों कपालियां किसने बनाई हैं ? (मध्यतः) बीच में (प्रतिष्ठाम्) बैठने के लिये नितम्ब भाग (केन) किसने बनाया है ?

उत्तर मिलता है—"केन" अर्थात् प्रजापति ने ।

इस सूक्त में मानव-शरीर की रचना में एक क्रम है और वह क्रम यह है कि रचना का क्रम पैर की एड़ी से प्रारम्भ होता है और शिर के कपाल पर जाकर समाप्त होता है। पहले मन्त्र से लेकर तीसरे मन्त्र तक एड़ियों से लेकर दोनों जांघों, दोनों कूल्हों और मल-मूत्र के छिद्रों तक की रचना का वर्णन है। चौथे और पांचवें मन्त्र में शरीर के मध्य भाग की रचना का वर्णन है जिस में छाती की अस्थियों, गले की अस्थियों, हंसली, दोनों स्तनों, दोनों बाहुओं, कन्धों का मेरुदण्ड के साथ जुड़ने का वर्णन किया गया है। इससे आगे छटे मन्त्र से लेकर आठवें मन्त्र तक शिरोभाग में रहने वाले अङ्गों की रचना का वर्णन है। छटा मन्त्र इस प्रकार है—

कः सप्त खानि वितततर्द शीर्षणि,
कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् ।

येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मानि,
चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥

भाष्य—(कः) कौन देव (शीर्षणि) शिर भाग में (सप्त खानि) सात इन्द्रियों के छिद्रों (वितर्दं) विशेष रूप से गढ़ कर बनाता है और कौन (इमौ कर्णौ) इन दोनों कानों को (नासिके) इन दो नाक के छिद्रों और (चक्षणी) इन दो आंखों और (मुख) इस मुख को किसने बनाया (येषां) जिनके (विजयस्य मह्मानि) विजय की महिमा—महान् सामर्थ्य में (पुरुत्रा) बहुत से (चतुष्पदः) चौपाये और (द्विपदः) पक्षीगण और दोपाये मनुष्य भी (यामम्) अपना जीवन-मार्ग (यन्ति) तय करते हैं।"

इस से आगे सातवां मन्त्र इस प्रकार है—

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा,
महीमधि शिश्राय वाचम्।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो,
वसानः क उ तच्चिकेत ॥

भाष्य—जो देव (हन्वोः) दोनों जबड़ों के बीच में (जिह्वाम्) जीभ को (अदधात्) रखता है और वहां ही वह (पुरूचीम्) सर्व-व्यापक (महीम्) बड़ी भारी (वाचम्) वाक् शक्ति को (अधि-शिश्राय) स्थापित करता है। (सः) वह (भुवनेषु) लोकों के (अन्तः) भीतर व्यापक (अपः वसानः) समस्त जीवों, प्राणियों, कर्मों, ज्ञानों और मूल प्रकृतिरूप कारण परमाणुओं में भी व्यापक है (क उ) कौन (तत्) उसको (चिकेत) जानता है।"

आठवां मन्त्र इस प्रकार है—

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं,
ककाटिकां प्रथमो यः कपालम्।

चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य,
दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥

भाष्य—(यतमः) जो देव (अस्य) इस पुरुष देह के (मस्तिष्कम्) मस्तिष्क को, (ललाटम्) ललाट– माथे को और (यः) जो देव (प्रथमः) सब से पहले है वह (ककाटिकाम्) गले की घण्टी और (कपालम्) कपाल खोपड़ी को और (पूरुषस्य) पुरुष देह के (हन्वोः) जबड़ों के बीच की (चित्यम्) रचना की (चित्वा) बनाकर (दिवः) प्रकाश स्वरूप द्यौः या मोक्ष पद में (रुरोह) व्याप्त हुआ है (सः) वह (देवः) देव (कतमः) कौनसा है ?" (या वह सब से अधिक सुख वाला है)।

उपर्युक्त आठ मन्त्रों में मनुष्य देह के एड़ी से लेकर सिर के कपाल तक के स्थूल अंगों की रचना का वर्णन है। उन अंगों को आंखों से देखा जा सकता हैं और हाथों से छुआ जा सकता है। इन अङ्गों में दस इन्द्रियों की रचना भी दिखाई गई है। तीन इन्द्रियां—पैर, पायु और उपस्थ धड़ से नीचे के भाग में हैं। एक इन्द्रिय (दोनों हाथ) धड़ के दोनों ओर है और छः इन्द्रियां शिरोभाग में हैं। दस इन्द्रियों में पांच कर्मेन्द्रियां हैं और पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। जिन इन्द्रियों के रहने के छिद्र या द्वार दृष्टिगोचर होते हैं वे 'खानि' के नाम से कहे गये हैं। इस रचना में नौ खानि बतलाई गई हैं। दो खानि ऊरू (पायु और उपस्थ) शरीर के अधोभाग में और सात खानि (छिद्र) शिरोभाग में हैं। नासिका, चक्षु और कर्ण इन तीन इन्द्रियों के छः छिद्र हैं और मुख में एक रसना अर्थात् जिह्वा। इस प्रकार से शिरोभाग में चार ज्ञानेन्द्रियां और एक जिह्वा (वाक्) कर्मेन्द्रिय है। एक पाँचवीं ज्ञानेन्द्रिय त्वचा है जो सारे शरीर में व्याप्त

है, उसका कोई एक स्थान नहीं है, यह शरीर के बाहर भी है और अन्दर भी है, इसलिए इसकी रचना का वर्णन सूक्ष्म तत्त्वों की रचना में होना चाहिए।

मन को भी इन्द्रिय कहा गया है, परन्तु बाह्य इन्द्रिय नहीं और न ही इन्द्रियों के समान उसका अधिष्ठान दृष्टिगोचर होता है। अतः उसका वर्णन आगे सूक्ष्म तत्त्वों में किया जायेगा। इन्द्रियों के सम्बन्ध में यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इन मन्त्रों में इस देह की रचना के साथ इन्द्रियों की भी रचना होती है। जिसको हमने आंखों से देखा है, परन्तु यह दीखने वाला तो इन्द्रियों का अधिष्ठान है।

इन्द्रियां तो अतीन्द्रिय हैं जिनको इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता है। इस देह की रचना से पहले भी इन्द्रियां जीवात्मा के साथ रहती थीं। इस देह में जीवात्मा के साथ इन्द्रियां भी प्रवेश करती हैं और जीवात्मा के साथ इस देह के शिरोभाग में रहती हैं। इस देह को छोड़ने पर जीवात्मा के साथ इन्द्रियां भी निकल जाती हैं।

इसी मन्त्र की पुष्टि में इसी काण्ड के आठवें सूक्त के नवम मन्त्र में शिरोभाग की एक पात्र से उपमा देकर इन्द्रियों को सात ऋषियों का नाम देकर मस्तिष्क में रहने वाले महान् आत्मा (जीवात्मा) का द्वारपाल बताया गया है। इन्द्रियों को ऋषि कहने का कारण यह है कि "**ऋषिर्दर्शनात्**" ऋषि देखने वाले को कहते हैं। बाहर के सब विषयों का ज्ञान जीवात्मा को पांच ज्ञाने-न्द्रियों के द्वारा ही होता है। इसलिये अथर्ववेद १०।८।९ मन्त्र में इन्द्रियों को सात ऋषियों के नाम से पुकारा गया है। यजुर्वेद

के ३४वें अध्याय के ५५वें मन्त्र में भी इन्द्रियों को ऋषयः कहा है—

"सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।"

इसका भाष्य महर्षि दयानन्द जी ने इस प्रकार किया है—

"जो (सप्त ऋषयः) विषयों अर्थात् शब्दादि को प्राप्त कराने वाली पांच ज्ञानेन्द्रियां मन और बुद्धि ये सात ऋषि इस शरीर में (प्रतिहिताः) प्रतीति के साथ स्थिर हुए हैं वे ही सात (अप्रमादम्) जैसे प्रमाद अर्थात् भूल न हो वैसे (सदम्) ठहरने के आधार शरीर की (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं।

इन पांच ज्ञानेन्द्रियों और मन की स्थिति अथर्ववेद १०।२। ६ और १०।८।९ मन्त्रों के प्रमाण से शिरस्थ देश में दिखलाई जा चुकी है। अब यह दिखलाया जाता है कि शिरोदेश में भी उनका विशेष स्थान कौन सा है? अथर्ववेद के काण्ड १९ सूक्त ९ मन्त्र ५ में लिखा है :—

इमानि यानि पंचेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि। यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ।।

अर्थ—ये जो पाच इन्द्रियां मन सहित छ हैं इन को ब्रह्म ने मेरे हृदय में अच्छी प्रकार से स्थापित किया है, इन्हीं के द्वारा धोर दुख उत्पन्न होता है, इन्हीं से हम सब को शान्ति मिले।

इस मन्त्र में पांच ज्ञानेन्द्रियों और मन की स्थिति हृदय में बताई गई है। अथर्ववेद के १०वें काण्ड में पांच ज्ञानेन्द्रियों और मन की स्थिति कही गई थी और इसी वेद के १९वें काण्ड में इन की स्थिति हृदय में कही गई है, इसलिये निष्कर्ष यह निकला कि

हृदय भी शिरस्थ देश में है। इसलिये वेद हमें यही सिखलाता है कि जीवात्मा का निवास-स्थान उस हृदय में है जो शिरस्थ कपाल में रहता है।

इस विषय पर बल देते हुए अथर्ववेद काण्ड १० के दूसरे सूक्त के २६, २७ मन्त्रों में कहा गया है:—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ १०।२।२६॥

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ १०।२।२७॥

अर्थः—(अथर्वा) प्रजापति परमात्मा (अस्य) इस पुरुष के (मूर्धानम्) सिर को और (हृदयं च) हृदय को (संसीव्य) अच्छी प्रकार सीकर (यत्) जब (मस्तिष्कात्) मस्तिष्क से ऊपर और (शीर्षतः) सिर के भी ऊपर (पवमानः) प्राणरूप होकर स्वयं समस्त देहों को (प्रैरयत्) गति दे रहा है।"

अर्थः—(वा) अथवा (अथर्वणः) अथर्वा प्रजापति का बनाया हुआ (तत्) वह (शिरः) शिर ही (देव-कोशः) देव-कोश, देव अर्थात् इन्द्रियों का आवरणीय निवास स्थान (सम् उब्जितः) बना हुआ है। (तत्) उस (शिरः) शिर को (प्राणः) प्राण (अभिरक्षति) चारों ओर से रक्षा करता है और (अन्नम् अथोमनः) अन्न और मन भी उसकी रक्षा करते हैं।"

इन मन्त्रों से यही सिद्ध होता है कि मनुष्य का सिर ही सब इन्द्रियों, मन, हृदय, प्राण, ज्ञान और आत्मा का केन्द्र या निवास-स्थान है।

आयुर्वेद का सर्वोत्कृष्ट और प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ चरक संहिता भी इस सिद्धान्त को पुष्टि करता है। चरक-संहिता के सूत्रस्थान अध्याय १७ में लिखा है:—

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥

—चरक सूत्र-स्थान अ० १७

अर्थात्:—प्राणधारियों के प्राण जहां रहते हैं और जहां सारी इंद्रियां भी रहती हैं, जो अंगों में सर्वोत्तम अंग है उसको शिर कहा जाता है।,

प्राचीन आयुर्वेद सम्बन्धी शास्त्रों में भेल संहिता भी आर्ष संहिता कही जाती है, उसमें भी लिखा है :—

शिरस्तालवन्तर्गतं सर्वेन्द्रिय-परं मनः।
तत्रस्थं तद्धि विषयेन्द्रियाणां,
रसादिकान् समीपस्थान् विजानाति ॥

भेल संहिता, चिकित्सा-स्थान

अर्थ:—सब इन्द्रियों में प्रधान मन सिर और तालु के बीच रहता है, वह समीप में रहने वाली इन इन्द्रियों के रसों (विषयों) को अच्छी प्रकार से जानता है।"

प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों में 'वाग्भट्ट' नाम के एक अति प्रसिद्ध आचार्य ने 'अष्टाङ्ग हृदय' नाम के अपने ग्रन्थ में लिखा है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखं ऋषयः पुरुषं विदुः।
मूल प्रहारिणस्तस्माद् रोगांश्छीघ्रतरं जयेत् ॥
सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येनाश्रिताः स्थिताः।
तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत् ॥ अष्टांग हृदय

अर्थ—ऋषि लोग पुरुष (मनुष्य) को ऊपर मूल (जड़) वाला और नीचे की ओर शाखा वाला मानते हैं, इसलिये जड़ में (सिर में) होने वाले रोगों को शीघ्र ही काबू में कर ले, क्योंकि सिर ही समस्त इन्द्रियों और सब प्राणों का आश्रय है, इसलिये इस उत्तमांग की रक्षा में सर्वाधिक प्रयत्न करे।"

अब प्रश्न उठता है कि जब वेद आदि में जीवात्मा का स्थान शिर में रहने वाले हृदय में है तो कुछ आर्य बन्धु रक्त-प्रक्षेपक हृदय में जीवात्मा का स्थान क्यों मानते हैं? इस प्रश्न का उत्तर वे बन्धु लोग यह देते हैं कि हम वेद को नहीं जानते, हम तो महर्षि दयानन्द के प्रमाण को ही वेद का प्रमाण मानते हैं। उन्होंने स्वयं ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के उपासना-विषय में उपनिषदों का प्रमाण देते हुए छान्दोग्य उपनिषद् के प्र० ८ ख० १ मन्त्र १ को उद्धृत किया है, मन्त्र यह है:—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् तदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वा विजिज्ञासितव्यमिति ।। छा० उ० ८।१।१।।

स्वामी जी ने इस मन्त्र का यह अर्थ किया है—

जो जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसे प्राप्त करना चाहे वे उस समय यह जाने कि-- (अथ यदिदं) कंठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं उसके बीच में जो गर्त है उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है, उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर तथा भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह

आनन्द स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान या मार्ग नहीं है।"

इस मन्त्र के अर्थ पर जब कोई विद्वान् पुरुष ध्यान पूर्वक विचार करता है तो वह यही अनुभव करता है कि यह अर्थ महर्षि दयानन्द का किया हुआ नहीं है। यह अर्थ किसी पौराणिक पण्डित का है जो ऊपर से अपने आपको ऋषि का भक्त कहता था, परन्तु प्रच्छन्न रूप से ऋषि के वेदभाष्यों और ग्रन्थों में गड़बड़ कर देता था। इस मन्त्र के अर्थों में भी उसने यही अनर्थ किया है। मन्त्र का सीधा और शुद्ध अर्थ यह होता है--

"जो इस ब्रह्मपुर के अन्दर छोटा सा कमल गृह है, उस कमल गृह के अन्दर भी अल्प आकाश है, उसके जो बीच में है उसकी खोज करनी चाहिये और उसी को जानना चाहिए।"

परन्तु पौराणिक पण्डित ने—"यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म" वाक्य का अर्थ यह किया है—"कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं उसके बीच में जो गर्त है उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है।' यह जो मन्त्र के पहले वाक्य का हिन्दी में अर्थ किया गया है वह सर्वथा झूठा और अनर्गल अर्थ है। मन्त्र में कण्ठ, स्तन, उदर, हृदय, नगर, ऊपर तथा ऊंचे परमेश्वर आदि का संकेत तक भी नहीं है, इसको लिखने वाले को विशेषण विशेष्य और कर्त्ता कर्म, करण आदि कारकों का भी बोध नहीं था ऐसा इस हिन्दी अनुवाद पढ़ने से प्रतीत होता है।

क्या कोई स्वस्थ मस्तिष्क वाला निष्पक्ष व्यक्ति इस अनर्गल और बिना सिर पैर वाले अर्थ को उपर्युक्त उपनिषद् सन्दर्भ का अनुवाद कह सकता है ? उपनिषद् के सन्दर्भ में कौन सा ऐसा शब्द है जिस से "दोनों स्तनों के बीच में कंठ से नीचे और उदर से ऊपर हृदय देश है" यह अर्थ निकलता है ? और वह कौन सा शब्द है जिसका अर्थ सर्वशक्तिमान् और आनन्द स्वरूप अर्थ निकलते हों ? उपनिषद् के दहर शब्द का अर्थ गर्त कैसे कर लिया ? उपनिषद् में दहर शब्द दो जगह आया है—एक जगह पुण्डरीक वेश्म के विशेषण में 'दहर' दूसरी जगह आकाश शब्द का विशेषण 'दहर' है। यह विशेषण है, विशेष्य नहीं। विशेषण के लिंग वचन और विभक्ति विशेष के अनुसार होते हैं। वेश्म शब्द नपुंसक लिंग है, इसलिये विशेषण दहरं कहा गया। आकाश पुलिंग है, इसलिये उसका विशेषण 'दहरः' लिखा गया है। परन्तु किसी अधकचरे पण्डित ने 'दहर' शब्द का अथ गर्त्त कर दिया और जो 'वेश्म' शब्द का विशेषण था उसको सप्तमी विभक्ति कहकर 'वेश्म' शब्द का अधिकरण बना दिया। कोई भी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति व्याकरण के सूर्य महान तार्किक महर्षि दयानन्द को इस हिन्दी अनुवाद का कर्त्ता नहीं कह सकता।

महर्षि दयानन्द ने उपासना-योग की विधि, योग-दर्शन के व्यास-भाष्य के आधार पर उपासना-योग के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति के और उसके साक्षात्कार की पूर्ण विधि लिख कर उसके प्रमाण में उपनिषदों के कुछ मन्त्रों को लिखा है। मन्त्रों के अर्थ सरल थे, इसलिये उनके संस्कृत भाष्य की आवश्यकता नहीं समझी, उनका हिन्दी भाषा में अनुवाद किसी पण्डित से करवा दिया और स्वामी जी को फिर उन लेखों को देखने का अवसर नहीं मिला।

उनके निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् आर्यों ने भी अच्छी प्रकार से देख-भाल नहीं की, इसलिये वह पाठ आज तक भी ऋषि दयानन्द के नाम से छपता चला आ रहा है।

ऐसा मानने के लिये हमारे पास क्या प्रमाण है कि यह लेख किसी पौराणिक पण्डित का है ? इस का प्रमाण यह है कि महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना-योग विषय में योग-शास्त्र के सूत्रों की व्याख्या में महर्षि वेद व्यास के भाष्य को ही प्रमाण माना है। इसके अतिरिक्त दूसरे भाष्यकारों के प्रमाणों को स्वीकार नहीं किया। पातञ्जल योग दर्शन के व्यास भाष्य के दो सूत्रों का व्यास भाष्य यहां उद्धृत किया जाता है, इसके साथ ही दो पौराणिक विद्वानों के भाष्यों को भी उद्धृत किया जा रहा है।

सूत्र ये हैं—(१) **विशोका वा ज्योतिष्मती** । यो० १।३६
(२) **हृदये चित्त संवित्** । यो० ३।३४

इनका व्यास भाष्य—(१) **हृदये पुण्डरीके धारयतो या बुद्धि-संवित्, बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरं आकाशकल्पं ।**" अर्थात् हृदय-कमल में धारणा करने से जो बुद्धि का ज्ञान होता है, वह निश्चयात्मिका सात्त्विक बुद्धि आकाश के समान प्रकाश वाली है।

(२) **यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्त संवित्**—अर्थात् जो यह ब्रह्मपुर में सूक्ष्म सा कमल के समान गृह है उसमें विज्ञान है। इसमें संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है।

अब व्यास भाष्य के इन सूत्रों की टीका पौराणिक विद्वान् वाचस्पति मिश्र द्वारा तत्त्व वैशारदी टीका में लिखा गया है—

हृदय पुण्डरीक इति—उदरोरसयोर्मध्ये यत् पद्ममधो मुखं तिष्ठत्यष्टदलं रेचक - प्राणायामेन तदूर्ध्वमुखं कृत्वा तत्र चित्तं धारयेत् ।। योग० १।३६

अर्थ—पेट और छाती के मध्य में जो अष्टदल कमल रूप हृदय नीचे की ओर मुख करके ठहरा हुआ होता है वह रेचक प्राणायाम से ऊपर को मुख वाला हो जाता है, वहां चित्त को लगाना चाहिये।

(२) **हृदये चित्तसंवित्—हृदय पदं व्याचष्टे, यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे बृहत्वात् आत्मा ब्रह्म तस्य पुरं निलयः। तद्धि तत्र विजानाति स्वमिति दहरं गर्तं तदेव पुण्डरीकमधोमुखं वेश्म मनसः।** योग० ३।३४

अर्थ—'हृदये चित्त संवित्' सूत्र की व्याख्या—जो यह इस ब्रह्मपुर में—बड़ा होने से आत्मा ब्रह्म है उसका नगर घर है। वहां ही उसको जाना जाता है कि मैं हूं। दहर अर्थात् गड्ढा वह ही हृदय नीचे मुख वाला मन का घर है।"

इन्हीं उपर्युक्त दोनों सूत्रों की 'योग-वार्त्तिक' टीका 'विज्ञान भिक्षु' द्वारा इस प्रकार की गई है—

(१) **अन्तः करणस्य चेयं योगप्रोक्ता प्रक्रिया—उदरोरसयोर्मध्ये यत् पद्मम् तिष्ठति अधो मुखमष्टदलं तत् रेचक प्राणायामेनोर्ध्वमुखं कृत्वा तस्मिन्नालम्बेन चित्तं धारयेत् ।।**

अर्थ—और यह अन्तःकरण की योग में कही हुई प्रक्रिया है कि पेट और छाती के बीच में जो अष्ट-दल हृदय - कमल नीचे मुख करके ठहरा हुआ है उसको रेचक प्राणायाम से ऊपर मुख वाला करके उस में चित्त का संयम करे। (यो० १।३६)

(२) हृदय-पदं व्याचष्टे। यदिदमिति अस्मिन्ब्रह्मणः परमात्मनो जीवस्य च पुरे शरीरस्य यदिदं दहरं सगर्तं पुण्डरीकाकारं ब्रह्मणो वेश्म तत्र विज्ञानवृत्तिकमन्तःकरणं ब्रह्मणः कल्पं तिष्ठति। अतस्तस्मिन् हृदयाख्ये वेश्मनि संयमाच्चित्तसाक्षात्कारो भवति।

अर्थ—हृदय पद को कहते हैं—यदिदं—इसमें ब्रह्म का—परमात्मा का और जीवात्मा के पुर में शरीर का जो 'दहर' सगर्त कमल के आकार वाला ब्रह्म का घर है वहां विज्ञान की वृत्ति वाला अन्तःकरण ब्रह्म रूप ठहरा हुआ है, इसलिये उस हृदय नाम वाले घर में संयम करने से चित्त का साक्षात्कार होता है।

पातञ्जल योग-शास्त्र के उपर्युक्त दो सूत्रों के व्यास-भाष्य को उद्धृत करने का कारण यह है कि व्यास ऋषि ने इस भाष्य में उपनिषद् के उसी मन्त्र का पूर्वार्ध उद्धृत किया है जिस मन्त्र का ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना-योग में हिन्दी अनुवाद किया गया है। योग-दर्शन के १।३६ सूत्र के भाष्य में व्यास जी ने 'हृदय पुण्डरीक' का लक्षण यह किया है कि उसमें बुद्धि-सत्त्व रहता है और निश्चय से बुद्धि-सत्त्व आकाश के समान प्रकाशमान है। योग-दर्शन के ३।३४ सूत्र के भाष्य में लक्षण यह है कि इस ब्रह्मपुर में जो यह सूक्ष्म या छोटा सा कमलाकार गृह है इसमें विज्ञान (बुद्धिसत्त्व) है। इस लक्षण में ब्रह्मपुर सप्तमी विभक्ति है और दहरं, पुण्डरीकं और वेश्म प्रथमा विभक्ति में हैं। अतः ये तीनों ब्रह्मपुर के बीच में रहते हैं और पुण्डरीक वेश्म के अन्दर बुद्धिसत्त्व रहता है जो आकाश के समान प्रकाशमान है, परन्तु ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में जो हिन्दी अनुवाद है वह व्यास-भाष्य के सर्वथा प्रतिकूल है। महर्षि व्यास के भाष्य

को टीका करने वाले दो पौराणिक पण्डितों—वाचस्पति मिश्र और विज्ञान भिक्षु ने उक्त मन्त्रों की जो टीका की है उनका ही अनुवाद ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उपनिषद् मन्त्र का हिन्दी अनुवाद है। पौराणिक पण्डितों की टीकाओं की प्रतिलिपि ऋषि दयानन्द जैसे मनीषी कदापि नहीं कर सकते थे।

पौराणिक पण्डितों ने हृदय के जो लक्षण किये हैं वे व्यास-भाष्य से सर्वथा भिन्न हैं। वे लक्षण इस प्रकार हैं—छाती और पेट के बीच में जो अष्टदल कमल (हृदय) नीचे को मुख वाला ठहरा हुआ है उसको रेचक प्राणायाम से ऊपर को मुख वाला किया जाता है।......जो इस ब्रह्मपुर में बड़ा होने से आत्मा—ब्रह्म...उसके घर में......दहर गढ़ को कहते हैं, वही नीचे मुख वाला कमल-गृह है।

यह सारा कथन व्यास-भाष्य के विरुद्ध है। ऋषि व्यास ने कहीं पर भी ईश्वर के रहने का घर नहीं माना। वेदान्त शास्त्र महर्षि व्यास की ही रचना है, उसमें यही सिद्ध किया गया है कि ब्रह्म सर्वव्यापक है, उसका कोई रंग-रूप नहीं। भाष्य में ब्रह्मपुर का वर्णन इसलिये नहीं किया गया कि यह ब्रह्म के रहने का घर है, बल्कि इसलिए किया गया है कि मनुष्य के शरीर में ही ब्रह्म की उपासना और भक्ति हो सकती है, दूसरे प्राणियों के शरीरों में परमात्मा का चिन्तन नहीं हो सकता। इसलिए मनुष्य के शरीर को ही ब्रह्मपुर कहा है। इस मनुष्य-शरीर में दहर अर्थात् छोटा सा कमल-गृह है, इस कमल गृह में अति सूक्ष्म तत्त्व बुद्धि-सत्त्व है, बुद्धि-सत्त्व में जीवात्मा, जीवात्मा के अन्दर परमात्मा व्यापक है। इसलिये आत्मा और परमात्मा की खोज बुद्धि - सत्त्व के अन्दर करनी चाहिए।

आकाश के समान प्रकाशमान पदार्थ बुद्धि-सत्त्व ही है। परमात्मा में ज्ञान रूप प्रकाश है, भौतिक प्रकाश नहीं। सब पदार्थों को प्रकाशित करने वाला परमात्मा ही है, इसलिए उसको प्रकाश स्वरूप कहते हैं, परन्तु ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उपनिषद् के हिन्दी अनुवाद में पौराणिक पण्डित ने व्यास जी के भाष्य के विरुद्ध और पौराणिक पण्डितों की टीकाओं को ठीक मान कर लिख दिया कि "कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमात्मा का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है, उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर तथा भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है।

पौराणिक पण्डितों की टीकाएं ऋषि व्यास के भाष्य के विरुद्ध होने से मानने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि महर्षि दयानन्द ने स्वयं ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के "ग्रन्थ प्रमाण्याप्रामाण्य विषय" में स्पष्ट कहा है कि पातञ्जल योग सूत्रों का व्यास-भाष्य ही प्रामाणिक है। इसी बात को ऋषिवर ने सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में दोहराया है। इसलिए छान्दोग्य उपनिषद् के ८।१।१ मन्त्र में वर्णित हृदय का स्थान छाती प्रदेश में नहीं। स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास में लिखा है—

सृष्टि-उत्पत्ति स्थिति प्रलय विषय—"देखो शरीर में किस प्रकार की ज्ञान-पूर्वक सृष्टि रची है कि जिसको विद्वान् लोग देख कर आश्चर्य मानते हैं। भीतर हाड़ों का जोड़, नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन, चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा, यकृत, फेफड़े, पंखा

कला का स्थापन, रुधिर-शोधन-प्रचालन, विद्युत का स्थापन, जीव का संयोजन, शिरोरूप मूल रचना, लोम नखादि का स्थापन, आंख की अतीव सूक्ष्म शिरा का तारवत् ग्रन्थन, इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन, जीव के जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था के भोगने के लिये स्थान विशेषों का निर्माण, सब धातुओं का विभाग, कला-कौशल-स्थापन आदि अद्भुत सृष्टि को बिना परमेश्वर के कौन कर सकता है ?''

सत्यार्थ प्रकाश आर्य लोगों के लिये महर्षि दयानन्द का सर्वोत्कृष्ट और विश्वसनीय ग्रन्थ माना जाता है, उस सत्यार्थ प्रकाश के इस संदर्भ में ऋषि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मानव शरीर की मूल रचना शिर से हुई है। सांख्य दर्शन, प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र और आधुनिक विज्ञान का यह निश्चित सिद्धान्त है कि जीवात्मा का प्रवेश मातृ-गर्भाशय में गर्भाधान के साथ ही हो जाता है। जीवात्मा के लिये अथर्ववेद १० । ८ । २५ में:— "**बालादेकमणीयस्कं**" अर्थात् जीवात्मा बाल से भी अत्यन्त सूक्ष्म है ' और १० । ८ । २८ में कहा गया है :—

"**एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः**"

अर्थात् "यह जीवात्मा बाल से भी अत्यन्त सूक्ष्म है और अन्तः करण से आवेष्टित सब से पहले माता के गर्भ में प्रवेश करता है।"

वेद के इस सिद्धान्त को लेकर ऋषि ने सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास में अपने मत की स्थापना की है कि मानव-शरीर में शिर ही मूल रचना है और इस मूल रचना में जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर अर्थात् १३ करणों के साथ शिरस्थानीय हृदय-गुहा में रहता है। ऋषि के इस स्पष्ट कथन से आर्यों के उस भ्रम का

उच्छेदन हो जाना चाहिये कि ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में जीवात्मा का निवास - स्थान रक्त-प्रक्षेपक हृदय में बताया है।

मैं यह बतला चुका हूं कि ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना विषय में छान्दोग्य उपनिषद् के मन्त्र का हिन्दी में अनुवाद वाचस्पति मिश्र और विज्ञान भिक्षु के अनुयायी भीमसेन शर्मा जैसे किसी छद्मवेशी पौराणिक का किया हुआ है और अन्ध विश्वासी आर्यों ने उस लेख को महर्षि दयानन्द का ही मान लिया है।

इसका यह दुष्परिणाम हुआ कि आध्यात्मिक सर्वश्रेष्ठ साहित्य को ही पौराणिक रंग में रंगना आरम्भ कर दिया। जिन आर्य समाजी लोगों ने उपनिषदों का भाष्य किया उन्होंने उपनिषदों के मौलिक रूप को बिगाड़ कर पौराणिक और रूढ़िवाद का जामा पहना दिया।

उपनिषद् साहित्य को वेदान्त कहा जाता है, इसका कारण यही है कि वेद का सर्वोत्तम और अन्तिम लक्ष्य यही है कि ईश्वर और जीव के स्वरूप को जानकर उसके प्राप्त करने लिये ही सृष्टि के सब पदार्थों का उपयोग किया जाये। इसलिये उपनिषदों का वेदों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु आर्य समाजी पण्डितों ने वेद का प्रमाण न मानकर स्वामी शंकराचार्य जैसे पौराणिक लोगों का अनुकरण किया है।

जीवात्मा शरीर के किस प्रदेश में रहता है ?

❖

शरीर में जीवात्मा के निवास-स्थान का पता लगाने से पहले यह स्पष्ट होना चाहिये कि जीवात्मा कौन है ? 'जीवात्मा' शब्द दो पदों से मिलकर बना है—"जीव+आत्मा, अर्थात् जीव सहित आत्मा", जब जीव के साथ संयुक्त होकर आत्मा रहता है तो उस अवस्था में आत्मा को 'जीवात्मा' के नाम से पुकारा जाता है। सांख्य दर्शन में बतलाया गया है कि जीव से विशेषित होने के कारण आत्मा में जीवत्व की संज्ञा लागू होती है। सांख्य का सूत्र इस प्रकार है—

"विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात्" ६ । ६२ ॥

अर्थात् "बुद्धि आदि सहित आत्मा का जीव होना कहा जाता है अन्वय-व्यतिरेक से"। अन्वय उसे कहते हैं जिसके होने से किसी वस्तु की सिद्धि होती है और व्यतिरेक उसको कहते हैं जिसके न होने से उस वस्तु की सिद्धि नहीं होती। महर्षि पाणिनि के धातु-पाठ में "जीव धातु" का अर्थ "बल प्राण धारणयोः" है। अर्थात् बल और प्राण-धारण के अर्थ में जीव-धातु का प्रयोग होता है। इसलिये आत्मा के प्राण धारण करने से आत्मा को जीव या

जीवात्मा कहा जाता है। जीव या प्राण धारण न करने से आत्मा जीवात्मा नहीं कहा जायेगा।

प्राण तीन अन्तः - करणों और १०(दस) बाह्य करणों की सामान्य वृत्ति कहलाता है। इसलिये आत्मा उसी अवस्था में जोव कहा जाता है जब वह १३ करणों के सम्पर्क में रहता है। इन करणों का आत्मा के साथ सम्पर्क आवेष्टन के रूप में होता है। यह आवेष्टन आत्मा को घेरे रहता है, इसलिये इसको आत्मा का घर या शरीर कहा जाता है। ये १३ करण इस नाम से कहे जाते हैं—बुद्धि, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां। ये १३ करण प्रकृति के सब से पहले कार्य हैं, अर्थात् बुद्धि प्रकृति का सब से पहला कार्य है। बुद्धि से अहंकार, अहंकार से पांच तन्मात्रायें और मन तथा १० इन्द्रियां ये १३ करण और पांच तन्मात्रायें अत्यन्त सूक्ष्म हैं, इस लिये इद्रियों का विषय नहीं हैं। इसलिये प।च तन्मात्राओं सहित करणों का यह आवेष्टन जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर कहलाता है। इस सूक्ष्म शरीर के साथ आत्मा का संयोग आदि सृष्टि के प्रारम्भ काल में ही हो जाता है। इस संयोग का कारण आत्मा का अविवेक ही होता है। इस संयोग के पश्चात् ईश्वरीय व्यवस्था से माता-पिता के संयोग से आत्मा को दूसरा शरीर मिलता है। यह शरीर स्थूल होता है, क्योंकि पांच स्थूल भूतों के संयोग से यह शरीर बनता है। अब यह आत्मा जीवात्मा कहलाता है।

इसके दो शरीर हो जाते हैं। पहला सूक्ष्म शरीर और दूसरा स्थूल शरीर। जिस प्रकार सूक्ष्म शरीर आत्मा को आवेष्टित किये हुए था उसी प्रकार दूसरे स्थूल शरीर ने सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा को आवेष्टित कर लिया। इसलिये प्रश्न उठता है कि

स्थूल शरीर में कौन सा प्रदेश है जिसमें जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर सहित निवास करता है ? उत्तर मिलता है—"हृदय प्रदेश ही जीवात्मा का घर(निवास) है।"

वेद, उपनिषद्, मनुस्मृति और गीतादि शास्त्र एकमत हो कर उच्च स्वर से कहते हैं कि हृदय-देश ही ऐसा स्थान है जहां जीवात्मा का निवास है और उसी स्थल में जीवात्मा अपने प्रियतम प्रभु का साक्षात्कार करता है।

परन्तु इतने स्पष्ट मतैक्य होने पर भी वेदादि शास्त्रों को प्रमाण मानने वाले आर्य लोगों में ही इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। एक दल कहता है कि आत्मा उस हृदय में रहता है जो रक्त-प्रक्षेपक है और जो कण्ठ से नीचे और नाभि से ऊपर दोनों स्तनों के बीच में है।

दूसरे दल का मत है कि जिस हृदय में आत्मा का निवास है वह शिरोगुहा में स्थित मस्तिष्क में रहने वाला है। आर्य लोगों की इस द्विविधा को सुलझाने के लिये महर्षि दयानन्द के उस सिद्धान्त को सम्मानपूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिये जो सत्य और असत्य को जानने और निर्णय करने के लिये उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में मोटे अक्षरों में लिखा है। ऋषिवर ने सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में वेद, मनुस्मृति, योग-दर्शन, आयुर्वेद शास्त्र, तैत्तिरोयोपनिषद्, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों के प्रमाणों से सत्यासत्य के निर्णय का वर्णन करते हुए लिखा है—"इत्यादि शास्त्रों के प्रमाणादि से परीक्षा करके पढ़ें और पढ़ावें अन्यथा विद्यार्थी को सत्य - बोध कभी नहीं हो सकता। जिस-जिस ग्रन्थ को पढ़ावें उस-उस को पूर्वोक्त प्रकार

से परीक्षा करके जो सत्य ठहरे वह वह ग्रन्थ पढ़ावें, जो जो इन परीक्षाओं से विरुद्ध हो उन उन ग्रन्थों को न पढ़ें, न पढ़ावें क्योंकि :— **"लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तु-सिद्धिः"** लक्षण— जैसे कि "गन्धवती पृथ्वी" जो पृथ्वी है वह गन्ध वाली है, ऐसे लक्षण प्रत्यक्षादि प्रमाण इन से सत्यासत्य और पदार्थों का निर्णय हो जाता है, इसके बिना कुछ भी नहीं होता।"

महर्षि दयानन्द जी के इस सिद्धान्त को कसौटी पर परखने से उपनिषदों में कहे हुए उस हृदय-स्थल का ठीक-ठीक पता चलाया जा सकता है। उपनिषदों में आये हुए हृदय शब्द के जो लक्षण लिखे हैं उनको बड़े ध्यान से देखना चाहिये और उन लक्षणों की सत्यता प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द आदि प्रमाणों से जानना चाहिये।

वे लक्षण कौन कौन से हैं ?

उपनिषदों में आत्मा के निवास वाले हृदय के जो लक्षण किये गये हैं वे निम्न प्रकार से हैं—

लक्षण १—हृदय के ऐसे लक्षणों में सब से पहला और मुख्य लक्षण शरीर की नाड़ियों का मूल स्थल होना है। इसका उल्लेख कठ, प्रश्न, मुण्डक, छान्दोग्य और बृहदारण्यकादि उपनिषदों में विस्तार से किया गया है।

१—कठोपनिषद् में नाड़ियों का वर्णन इस प्रकार है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

कठो० ६ वल्ली मन्त्र ४५

अर्थात् एक सौ एक हृदय की नाड़ियां हैं। उनमें एक मूर्धा को (सिर का ऊपरी भाग) गई है। उस ऊपर वाली नाड़ो से आता हुआ आत्मा अमृत पद को पाता है। दूसरी नाड़ियों में रहने वाले दूसरी गतियों में जाते हैं।

२—प्रश्नोपनिषद्—**हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति॥** प्रश्नोपनिषद् ३।६

अर्थात् यह देह में रहने वाला आत्मा हृदय में रहता है, यहां हृदय में ये एक सौ एक नाड़ियां हैं, उन १०१ मुख्य नाड़ियों की सौ-सौ शाखा नाड़ियां हैं। उन शाखा नाड़ियों में से प्रत्येक को बहत्तर - बहत्तर सहस्र प्रतिशाखा नाड़ियां हैं, उनमें व्यान विचरता है।

३—मुण्डकोपनिषद्—**अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः। स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येव ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥ २।६॥**

अर्थ—रथनाभि में अरों की भान्ति जहां नाड़ियां जुड़ी हुई हैं, वहां हृदय में वह यह आत्मा अनेक विकासों से भीतर प्रकट होता है। ओ३म् ऐसे उस आत्मा का ध्यान करो। अज्ञानान्धकार से परे पार उतरने के लिये तुम्हारा कल्याण हो।"

४—छान्दोग्योपनिषद्—**तद्यत्र तत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाड़ीषु सुप्तो भवति। तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति। तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति।**

अर्थ—जिस अवस्था में यह जीवात्मा सोया हुआ, सम शान्त और प्रसन्न होता है और स्वप्न को नहीं जानता, उस समय वह

इन नाड़ियों में प्रविष्ट हो जाता है। उस काल में उसको कोई भी पाप स्पर्श नहीं करता। उस समय आत्मा तेज से ही सम्पन्न होता है, आत्मज्योति से युक्त होता है।

तदेष श्लोकः—

५— शतं चैका च हृदयस्य,
नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्त्वमेति विष्वङ्न्या,
उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥

अर्थ—हृदय की १०१ नाड़ियां हैं। उनमें से एक मूर्धा में चली जाती है, उसके द्वारा ऊपर गया हुआ आत्मा मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। अन्य नाड़ियां मरने के समय नाना योनियों के मार्ग वाली होती हैं। छान्दोग्य प्रपाठक ८ खण्ड ६

तो जब यह सोया हुआ मनुष्य सब विषयों से उपरत, अत्यधिक प्रसन्न, मलों से रहित, स्वप्न को नहीं जानता है उस समय वह आत्मा उन ही नाड़ियों में प्रविष्ट होता है।

फिर जिस अवस्था में यह आत्मा इस शरीर से निकल जाता है तो इन ही रश्मियों द्वारा ऊपर को जाता है, वह...सूर्य में पहुंच जाता है

यहां यह श्लोक है—सौ और एक हृदय की नाड़ियां हैं।

६— बृहदारण्यक—अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद, हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते॥ २।१।१९॥

यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्त-

इन नाड़ियों में प्रविष्ट हो जाता है। उस काल में उसको कोई भी पाप स्पर्श नहीं करता। उस समय आत्मा तेज से ही सम्पन्न होता है, आत्मज्योति से युक्त होता है।

तदेष श्लोकः—

५— शतं चैका च हृदयस्य,
नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृत्यैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्त्वमेति विष्वङ्न्या,
उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥

अर्थ—हृदय की १०१ नाड़ियां हैं। उनमें से एक मूर्धा में चली जाती है, उसके द्वारा ऊपर गया हुआ आत्मा मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। अन्य नाड़ियां मरने के समय नाना योनियों के मार्ग वाली होती हैं। छान्दोग्य प्रपाठक ८ खण्ड ६

तो जब यह सोया हुआ मनुष्य सब विषयों से उपरत, अत्यधिक प्रसन्न, मलों से रहित, स्वप्न को नहीं जानता है उस समय वह आत्मा उन ही नाड़ियों में प्रविष्ट होता है।

फिर जिस अवस्था में यह आत्मा इस शरीर से निकल जाता है तो इन ही रश्मियों द्वारा ऊपर को जाता है, वह…सूर्य में पहुंच जाता है

यहां यह श्लोक है—सौ और एक हृदय की नाड़ियां हैं।

६—**बृहदारण्यक—अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद, हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरिततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरितति शेते॥** २।१।१९॥

यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हितानाम नाड्योऽन्त-

हृदये प्रतिष्ठिता भवन्ति । ताभिर्वा एतदास्रवादास्रवति । तस्मादेष प्रतिविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छरीरात्मनः ॥४।२।३

ता वा अस्यैता हितानाम नाड्यो यथाकेशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति, शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णाः ॥ बृहदारण्यक ४।३।२०

इन खण्डिकाओं का अर्थ—स्वप्नावस्था के अनन्तर जब मनुष्य सुषुप्ति अवस्था में होता है तब वह किसी के भी सम्बन्ध में नहीं जानता है, उस समय यह होता है कि हिता नाम को बहत्तर हजार नाड़ियां हृदय से निकल कर सारे शरीर में फैली हुई होती हैं, उनके द्वारा जीवात्मा स्वप्नावस्था में घूमने के पश्चात् पुरीतत नाड़ी में सो जाता है॥ २।१।१९

हृदय के अन्दर हिता नाम की नाड़ियां ठहरी हुई होती हैं, वे इतनी सूक्ष्म होती हैं जितना केश का कटा हुआ भाग। इनके द्वारा यह हृदय शरीर के सब भागों से अमृत के समान ज्ञान-रस को लेता है उसके द्वारा यह हृदय आत्मा के लिये शरीर के आहार की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और पवित्र होता है।। ४।२।३

जिन नाड़ियों के द्वारा जीवात्मा स्वप्न में विचरण करता है वे नाड़ियां अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं और वे सफेद, नीले, पिङ्गल, हरे और लोहित रंगों से भरी होती हैं।। ४।३।२०

जिस हृदय में आत्मा का निवास होता है उसका सब से मुख्य लक्षण या पहचान यह होती है कि उस हृदय के अन्दर १०१ (एक सौ एक) नाड़ियां मुख्य रूप से अवश्य होती हैं और उनकी शाखायें बहत्तर हजार(७२०००)होती हैं जो हृदय से निकल कर शरीर में फैल जाती हैं उनकी भी शाखाएं फैलती हैं जो मिलकर

(७२७२१०२०१) तक होती हैं जो सारे शरीर में फैली होती हैं। इन नाड़ियों का विशेष नाम हिता रक्खा गया है। इन नाड़ियों का रग भी विशेष होता है अर्थात् पिङ्गल, श्वेत, नीला, पीला हरा और लोहित होता है। इन नाड़ियों की रचना में सूर्य का विशेष योग होता है।

इन नाड़ियों के मूल उत्पत्ति-स्थान की परीक्षा कैसे हो ?

हृदय की इन नाड़ियों की परीक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही की जा सकती है, क्योंकि ये नाड़ियां भौतिक अर्थात् स्थूल शरीर का भाग होती हैं। स्थूल शरीर के सब भागों का बाहर भीतर से चीर-फाड़ द्वारा और ऐक्सरे द्वारा भी परीक्षण किया जा सकता है और वर्तमान युग में तो हमारे देश में ही सैकड़ों परीक्षा-गृहों और पोस्टमार्टम सेन्टरों और हस्पतालों द्वारा रात-दिन शरीर के अन्दर और बाहर के छोटे से छोटे भाग की परीक्षा की जाती है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण से उस स्थान का पता लगा लेना चाहिये जहां ऐसी नाड़ियों का उद्‌गम - स्थान है और वहां से सारे शरीर में फैली हुई हैं।

परन्तु आर्य समाज के जिन विद्वानों ने उपनिषदों के भाष्य किये हैं, उन्होंने जीवात्मा के निवास-स्थान वाले हृदय के लक्षणों पर कुछ विचार नहीं किया और महर्षि दयानन्द के बतलाये हुए इस सिद्धान्त की "**लक्षण - प्रमाणाभ्यां वस्तु - सिद्धिः**" अवहेलना की है। उन्होंने उपनिषदों के लक्षणों को पीछे डालकर अपने ही नये-नये लक्षण घड़ लिये हैं।

इन विद्वानों में सबसे पहले विद्वान् भीमसेन शर्मा हैं, जिन्होंने छान्दोग्य और बृहदारण्यक को छोड़ कर शेष ९ उपनिषदों का संस्कृत और आर्य भाषा में भाष्य किया है। उन्होंने

इन भाष्यों में अपने पाण्डित्य की तो खूब छटा बिखेरी है, परन्तु उपनिषदों के वास्तविक सिद्धान्त को धूमिल कर दिया है। हृदय शब्द के जो लक्षण उपनिषदों के ऋषियों ने किये थे भीमसेन जी ने उनको बदल कर उनके स्थान में अपनी ओर से नये लक्षण घड़ कर रख दिये हैं। उनका आगे उल्लेख किया जाता है।

१. कठोपनिषद् की छठी वल्ली के मन्त्र १६ को देखें। उसमें उपनिषद्कार ने लिखा है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृत्यैका।

इस मन्त्र का भाष्य करने के लिये भीमसेन जी ने अपनी ओर से ये वाक्य जोड़े हैं— "मरणान्त समय योगी क्या करे सो कहते हैं। (हृदयस्थ) हृदय में ठहरने वाली, उपनिषद् में लिखा है 'हृदयस्य' अर्थात् 'हृदय की' परन्तु भीमसेन जी ने 'हृदयस्य' के स्थान पर 'हृदयस्थ' पाठ देकर अर्थ किया है "हृदय में ठहरने वाली।" आगे उपनिषद् में लिखा—**तासाम्मूर्धानमभिनिःसृत्यैका** अर्थात् उनमें से एक मूर्धा को निकली है, परन्तु भीमसेन जी ने उसको बदल कर लिख दिया—'(तासाम्) उनके बीच (एका) सुषुम्णा नाड़ी हृदय से चल के (मूर्धानम्) मस्तिष्क में (अभि-निःसृता) जा निकली है।" याद रखना चाहिए कि उपनिषदों में सुषुम्णा नाम को कोई नाड़ी नहीं है। उपनिषदों में सभी नाड़ियों को हिता नाम से पुकारा गया है।

२. प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न के छठे मन्त्र—'**हृदि ह्येष आत्मा**' का भाष्य करते हुए भीमसेन जी ने लिखा—(हृदि) कमल के तुल्य आकार वाले (सुश्रुत के शरीर स्थान में लिखा है कि नीचे मुख वाला कमल के तुल्य हृदय है, वह जागते समय खुला रहता

है और सोते समय कमल के तुल्य बन्द हो जाता है। मास-पिण्ड रूप हृदय में (हि) ही (एष) यह रथ रूप शरीर का स्वामी या अभिमानी कि यह मेरा शरीर है (आत्मा) जीवात्मा रहता है।"

भीमसेन जी ने जिस हृदय के लक्षण किये हैं वह हृदय जीवात्मा का निवास-स्थान नहीं है, क्योंकि सारे उपनिषदों में जीवात्मा के निवास-स्थान हृदय के ये लक्षण कहीं भी नहीं हैं। उपनिषदों में उस हृदय को न तो मांस - पिण्ड रूप कहा गया है और न नीचे मुख वाले कमल के तुल्य कहा है। यह भीमसेन की अपनी कल्पना है। 'सुश्रुत' के शरीर-स्थान में जो लक्षण कहा है वह रक्त-प्रक्षेपक मांस पिण्ड रूप हृदय का लक्षण है, उपनिषदों में वर्णित जीवात्मा के निवास-स्थान हृदय का लक्षण नहीं। यदि सुश्रुत का विचार जीवात्मा के निवास - स्थान हृदय का वर्णन करना होता तो वह सत्यवादी ऋषि उन लक्षणों को लिखता जो औपनिषदिक ऋषियों ने लिखे हैं, अर्थात् उस हृदय में १०१ नाड़ियों का होना अवश्य लिखते।

आगे भीमसेन शर्मा जी ने प्रश्नोपनिषद् के तृतीय प्रश्न को ऐसे भंवर चक्र में डाल दिया है जिससे न तो वह स्वयं कभी बाहर निकल सकता है और न ही अपने पाठकों को इस भंवर चक्र से पार कर सकता है। उन्होंने लिखा—(अत्र) इसी हृदय में (नाड़ीनाम्, एतत्, एकशतं) एक सौ एक नाड़ो हैं। यह बात कठोपनिषद् में भी कह चुके हैं (तासां) उन एक सौ नाड़ियों में से एक-एक को (शतं शतम्) सौ-सौ शाखा नाड़ी फूटती हैं, अर्थात् जैसे मूल रूप वृक्ष को जड़ में स्कन्ध निकलते हैं वैसे मूल-एक सौ एक नाड़ियों में से एक-एक में सौ-सौ शाखा निकलती हैं, अर्थात् १०१ के साथ १०० का गुणा करने से १०१००(दस हजार एक सौ) शाखा नाड़ी

होती हैं। उन शाखा नाड़ियों (एकैकस्याम्) एक-एक के (द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाड़ी सहस्राणि भवन्ति) बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियां होती हैं। भीमसेन जी ने कठोपनिषद् मे कही हुई १०१ नाड़ियों में से एक का नाम सुषुम्णा रक्खा था, शेष १०० बेनाम की नाड़ियां रह गईं।

प्रश्नोपनिषद् में भी मुख्य नाड़ियां १०१ ही हैं, परन्तु इनमें से प्रत्येक की १०० शाखाएं हो गईं और फिर उनमें से भी प्रत्येक की बहत्तार-बहत्तर हजार शाखा नाड़ियां हो गईं। भीमसेन जी की कही हुई एक मात्र सुषुम्णा की शाखाएं बहत्तर लाख सुषुम्णा नाड़ियां सारे शरीर में फैल गईं।

आगे उन्होंने लिखा—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७॥

भावार्थ—(अथ) अब उदान वायु का कृत्य कहते हैं (उदानः) कण्ठ में विचरने वाला उदान नामक प्राण (एकया) १०१ जो नाड़ी कही हैं उनमें सौ से ऊपर जो एक सुषुम्णा नामक नाड़ी है उसके साथ (ऊर्ध्व) नाभि से ऊपर की ओर उठता हुआ (पुण्येन) पुण्य कर्म से जीवात्मा को (पुण्यम्) सुख - भोग की उत्तम सामग्री से युक्त पवित्र (लोकम्) दर्शनीय स्थान और देवादि उत्तम योनि को (नयति) प्राप्त कराता है और (पापेन) पाप-कर्म के संचित होने से (पापम्) दुःख की सामग्री और तिर्यगादि योनि को प्राप्त कराता है तथा (उभाभ्याम्) पुण्य-पाप दोनों के सम होने से (मनुष्य-लोकम्) (एव) मनुष्य योनि को ही प्राप्त कराता है।

कठवल्ली में कहा है— हृदय में १०१ नाड़ियां हैं, उनमें एक

नाड़ी सीधी मस्तक में मूर्धा को चली गई है, इसी सुषुम्णा नाड़ी में उदान वायु विचरता है। यह नाड़ी मस्तक से लेकर पग के तलवे तक सीधी विस्तृत है, इसी हृदयस्थ नाड़ी के एक प्रदेश में जीवात्मा रहता है। इसी नाड़ी के साथ मन को युक्त करते हुए समाधि-निष्ठ योगीजन आत्म-ज्ञान को प्राप्त होते हैं। उदान नामक प्राण ही लिंग शरीर के सहित जीवात्मा को शरीर से निकालता है, तथा कर्मों के अनुसार योनि और भोग को प्राप्त कराता है।"

भीमसेन जी शर्मा ने प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न की ६, ७ कण्डिकाओं की व्याख्या में पांच पृष्ठ तो भर दिये, परन्तु जीवात्मा के निवास हृदय के उन लक्षणों को छोड़ कर जिनका उपनिषद् में वर्णन है, उन्होंने अपने ही कपोल-कल्पित लक्षणों से पांच पृष्ठ भर डाले। इन लक्षणों के लिये चार प्रमाणों में से एक भी प्रमाण को उपस्थित नहीं किया। उनकी इस कल्पना के लिये कि "सुषुम्णा नाड़ी मस्तक से लेकर पग के तलवे तक सीधी विस्तृत है" क्या भीमसेन जी ने सुषुम्णा नाड़ी के सम्बन्ध में किसी शरीर-विज्ञान के पारंगत विद्वान् से पूछताछ करके निश्चय किया है? किसी बात को बिना प्रमाण के कहना कहने वाले की कल्पना मात्र या झूठ ही कहा जायेगा। पण्डित भीमसेन का यह कहना कि चोटी से लेकर एड़ी तक फैली हुई सुषुम्णा नाड़ी में उदान ही उदान भरा हुआ है सर्वथा झूठ है, क्योंकि उपनिषद् ने हृदय की एक सौ एक नाड़ियों की शाखाओं-प्रतिशाखाओं का वर्णन करते हुए लिखा है। "**आसु व्यानश्चरति**" उन सब नाड़ियों में व्यान वायु संचरण करता है?

प्रश्नोपनिषद के तीसरे प्रश्न में कौसल्य अश्वलायन ने पिप्प-

लाद महर्षि से प्राण-विद्या के सम्बन्ध में जिज्ञासा की थी। उसके प्रश्न थे—

१. भगवन् यह प्राण किससे उत्पन्न होता है?
२. इस शरीर में कैसे आता है?
३. अपने आप को बांट कर शरीर में कैसे रहता है?
४. किस द्वार से बाहर निकल जाता है?
५. कैसे बाहर के स्वरूप को धारण करता है और कैसे आत्मा को धारण करता है?

महर्षि पिप्पलाद ने जिज्ञासुओं को सन्तुलित और संक्षेप में पांचों प्रश्नों के उत्तर देकर उनको सन्तुष्ट कर दिया। तीसरे प्रश्न में पूछा गया था कि "भगवन्! मुख्य प्राण अपने आपको बांट कर शरीर में कैसे रहता है?" ऋषि ने उत्तर दिया कि मल-मूत्र के अवयवों में अपान को नियुक्त किया जाता है। चक्षु, श्रोत्र, मुख और नासिका के लिये प्राण को नियुक्त किया जाता है। शरीर के मध्य में अर्थात् कण्ठ से नाभि तक समान को नियुक्त किया जाता है।

उपर्युक्त तीन प्राणों के कार्यों और स्थानों का निरूपण करने के पश्चात् उपनिषद्कार ने व्यान की स्थिति को बताने से पूर्व शरीर के स्वामी जीवात्मा के निवास-स्थान हृदय-देश का निरूपण करना आवश्यक समझा। इसलिये उपनिषद्कार ने कहा—**'हृदि ह्येष आत्मा'** अर्थात् इस शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा निश्चय से इस शरीर के हृदय प्रदेश में रहता है। उस हृदय प्रदेश की पहचान या लक्षण बतलाना आवश्यक था। इसलिये परम ऋषि ने यह पहचान बताई—

अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाडीसहस्राणि भवन्ति।

अर्थात् इस हृदय (की पहचान के लिये) में ये १०१ नाड़ियां हैं और उनमें से प्रत्येक नाड़ी की सौ-सौ शाखा नाड़ियां हैं और इन शाखा नाड़ियों की भी बहत्तर-बहत्तर हज़ार प्रतिशाखा नाड़ियां हैं। इस प्रकार से ऋषि ने आत्मा के निवास-स्थान हृदय के वैभव को बतलाया कि इस हृदय की बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख दस हज़ार दो सौ एक (७२७२१०२०१) नाड़ियां हैं। फिर ऋषि ने चौथे प्राण 'व्यान' के कार्य का वर्णन किया और कहा—'**आसु व्यानश्चरति**' अर्थात् इन सब नाड़ियों के अन्दर 'व्यान' विचरता है अर्थात् प्रबन्ध करता है।

पं० भीमसेन शर्मा जी ने प्रश्नोपनिषद् की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा (जीवात्मा के निवास-स्थान वाले हृदय की पहचान या लक्षण) को छोड़ कर अपनी ओर से नये लक्षण और नई कल्पनाओं से अपने भाष्य का कलेवर मात्र बढ़ाया है। बार-बार यह रट लगाना कि कमल के तुल्य आकार वाले मांस-पिण्ड हृदय में जीवात्मा रहता है, वास्तविकता को सिद्ध नहीं करता। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से हो सत्यता का परिचय मिलता है। उपनिषद् का ऋषि तो कहता है कि शरीर को समस्त नाड़ियों में व्यान नामक प्राण रहता है, परन्तु भीमसेन जी यह रट लगाते हैं कि उदान प्राण सुषुम्ना नाड़ी में पगतल से लेकर मस्तिष्क तक में रहता है।

उपनिषद् में उदान नामक प्राण के कार्य और स्थान के सम्बन्ध में इतना ही लिखा है कि—**अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन**

पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्, अर्थात् एक नाड़ी से ऊपर रहने वाला उदान नाम का प्राण (मरने के समय) पुण्यकर्म करने वाले व्यक्ति को पुण्यलोक में, पापकर्म करने वाले को पापयोनि में और पाप व पुण्य कर्म करने वाले व्यक्ति को मनुष्य-लोक में ले जाता है। (प्रश्नोपनिषद् ३।७) अपनी मौज में आकर भीमसेन जी ने यह भी लिख दिया कि—इसी हृदयस्थ नाड़ी (सुषुम्णा) के एक प्रदेश में जीवात्मा रहता है। इसी नाड़ी के साथ मन को युक्त करते हुए समाधिनिष्ठ योगी-जन आत्मज्ञान को प्राप्त होते हैं।

❖

जीवात्मा के विषय में समीक्षात्मक विवेचन

❖

मानव-शरीर में जीवात्मा के स्थान के सन्दर्भ में आर्य समाज के विद्वानों में दो पक्ष हैं। एक पक्ष वाले कहते हैं कि आत्मा का निवास छाती प्रदेश में दोनों स्तनों के बीच में नाभि से ऊपर व कण्ठ के नीचे है।

इस पक्ष को मानने वालों में दयानन्द सन्देश पत्रिका के सम्पादक श्री राजवीर शास्त्री मुख्य हैं। इस पक्ष वालों का ठोस आधार ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना-विषय में उपनिषद् के प्रमाण का हिन्दी अर्थ है, जहाँ आत्मा का स्थान छाती प्रदेश में मान लिया गया है।

परन्तु कुछ विद्वान् ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उस हिन्दी अर्थ को प्रक्षिप्त (असत्य) मानते हैं। किसी अनुवादक पंडित ने वह पौराणिक मत ऋषि की भावना के विपरीत जोड़ दिया है, क्योंकि उपनिषद् के वाक्यों का वह अर्थ नहीं निकलता जो वहां लिखा है। इस हिन्दी लेख में पुनरुक्ति दोष भी पाया जाता है, क्योंकि ऋषिवर ने पतञ्जलि ऋषि के योग-दर्शन के ५० के लगभग मुख्य सूत्रों को उपासना विषय में लिखा है। इन सूत्रों के व्यास-भाष्य में योग के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का विस्तृत विवरण

प्रस्तुत किया गया है और अब अन्त में केवल उपनिषद् के प्रमाणों को पुष्टि के लिए दे दिया गया है। हिन्दी अर्थ में पुनः उपासना का यह सर्वथा नया प्रसंग ऋषि दयानन्द जैसे मनीषी तथा व्याकरणाचार्य का प्रतीत नहीं होता। अतः इस प्रकार के विचारक इन आर्य विद्वानों का पक्ष यह है कि जीवात्मा का स्थान शिरस्थ हृदय में ही है। इस दूसरे पक्ष के समर्थक श्री योगेन्द्र कुमार शास्त्री, श्री युधिष्ठिर जी मीमाँसक, श्री वीरेन्द्र जी पमार आदि मुख्य हैं। आर्य समाज में इन दोनों पक्षों की विद्यमानता में जीवात्मा के स्थान का निर्णय करने के लिए महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश में तीसरे सम्मुल्लास के कुछ निर्देश संकेत रूप में देखें—

"अब जो पढ़ना पढ़ाना हो वह-वह अच्छी प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है। परीक्षा पांच प्रकार की होती है—

१ जो ईश्वर के गुण, कर्म स्वभाव और वेदों के अनुकूल हो वह-वह सत्य है।

२ सृष्टि-क्रम के अनुकूल हो।
३ आप्तोपदेशानुकूल हो।
४ अपनी आत्मा के अनुकूल हो।
५ आठों प्रमाणों से सिद्ध होता हो।

महर्षि दयानन्द की इस कसौटी के अनुसार आर्य समाज के विद्वानों के इस पक्ष (जीवात्मा का स्थान शिरस्थ हृदय में है) की परीक्षा अब वेद मंत्रों के अधार पर की जाती है—

यजुर्वेद अ० ३६ मन्त्र २ को देखें—

'यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे

तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः। इस मन्त्र का अर्थ लिखा है—

(यत् मे) जो मेरे (चक्षुषः) नेत्र का वा (हृदयस्य) अन्तःकरण की (छिद्रं) न्यूनता (वा) वा (मनसः) मन की (अतितृण्णम्) व्याकुलता है (तत्) उसको बृहस्पति बड़े आकाशादि का पालक परमेश्वर (मे) मेरे लिये (दधातु) पुष्ट वा पूर्ण करे (यः) जो (भुवनस्य) सब संसार का (पतिः) रक्षक है वह (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी होवे ॥२॥

ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद अध्याय ३२ में तीन मन्त्रों में लिखा है कि ईश्वर बुद्धि में देखा जाता है—

१—वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

यजु० ३२।८

अर्थ—हे मनुष्यो! (यत्र) जिसमें (विश्वम्) सब जगत् (एकनीडम्) एक आश्रय वाला (भवति) होता है (तत्) उस (गुहा) बुद्धि वा गुप्त कारण (निहितम्) स्थित (सत्) नित्य चेतन ब्रह्म को (वेनः) पण्डित विद्वान् जन (पश्यत्) ज्ञान-दृष्टि से देखता है।

२—प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।

यजु० ३२।९

अर्थ—हे मनुष्यो! (यः) जो (गन्धर्वः) वेद-वाणी को धारण करने वाला (विद्वान्) पण्डित (गुहा) बुद्धि में (विभृतम्) विशेष धारण किये (अमृतम्) नाश-रहित (धाम) मुक्ति के स्थान (तत्) उस (सत्) नित्य चेतन ब्रह्म का (नु) शीघ्र (प्रवोचेत्) गुण कर्म स्वभावों के सहित उपदेश करे।

३—एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । यजुर्वेद अ० ३२ मन्त्र ४ ।।

अर्थ—हे (जनाः) विद्वानो (एषः ह) प्रसिद्ध परमात्मा (देवः) उत्तम स्वरूप (सर्वाः) सब दिशाओं और (प्रदिशः) विदिशाओं को (अनु) अनुकूलता से व्याप्त होके (सः उ) वही (गर्भे) अन्तःकरण के (अन्तः) बीच (पूर्वः) प्रथम कल्प के आदि में (ह) प्रसिद्ध (जातः) प्रकटता को प्राप्त हुआ ।

भावार्थ—यह पूर्वोक्त ईश्वर जगत् को उत्पन्न कर प्रकाशित हुआ । सब दिशाओं में व्याप्त होकर इन्द्रियों के बिना सब इन्द्रियों के काम सर्वत्र व्याप्त होने से करता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थिर है, वह भूत भविष्यत् कल्पों में जगत् की उत्पत्ति के लिये पहिले प्रकट होता है, वह ध्यानशील मनुष्यों के जानने योग्य है अन्य के जानने के योग्य नहीं ।

उपर्युक्त वेदार्थ से भी यही सिद्ध होता है कि ऋषि दयानन्द हृदय और अन्तःकरण को एकार्थ मानते हैं । महर्षि ने यजुर्वेद के लगभग २० मन्त्रों में हृदय शब्द को प्रकरणानुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया है, परन्तु उपासना-विषय में (ईश्वर की भक्ति में) हृदय का अर्थ अन्तःकरण या बुद्धि ही किया है । ऐसा ही सभी आर्य विद्वानों को मानना चाहिये ।

यजुर्वेद के १८वें अध्याय के दूसरे मन्त्र से सिद्ध होता है कि आत्मा का स्थान मस्तिष्क में ही है ।

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे······यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

यजु० १८।२

मेरा (प्राणः) हृदय जीवनमूल (च) और कण्ठ देश में रहने

वाला पवन (मे) मेरा (अपानः) नाभि से नीचे को जाने (च) और नाभि में ठहरने वाला पवन वे सब धर्म के अनुष्ठान से समर्थ हों।

इस मन्त्र में प्राण वायु का स्थान कण्ठ प्रदेश में कहा गया है और उस देश को हृदय जीवन मूल कहा है। इस मन्त्र की पुष्टि प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न से होती है—पिप्पलाद ऋषि से कौसल्य आश्वलायन मुनि ने पूछा—"भगवन् किससे यह प्राण उत्पन्न होता है ? इस शरीर में कैसे आता है ? अपने आप को बांट कर शरीर में कैसे रहता है ? किस द्वार से निकल जाता है ?

पिप्पलाद ऋषि ने उत्तर दिया—आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है, जैसे पुरुष के साथ यह देह की छाया फैली होती है, ऐसे ही यह आत्मा देहों में फैला हुआ है। मानस वृत्तियों से इस शरीर में प्राण आता है। प्राण का शरीर में विभाजन कैसे होता है ? इसके उत्तर में कहा गया है—जैसे कोई महाराजा अपने अधिकारियों को काम में लगाता है और कहता है कि इन ग्रामों पर तू शासन कर, ऐसे ही यह प्राण दूसरे प्राणों को पृथक्-पृथक् स्थान तथा काम पर लगाता है। इनके विभाग कैसे होते हैं ? उत्तर में कहा गया है—

"मल-मूत्र-त्याग के अवयवों में अपान वायु को जोड़ता है। आंख, कान, मुख और नासिका में 'प्राण' स्वयं रहता है। मध्य में (कण्ठ से नाभि तक) समान वायु रहता है। समान वायु ही इस खाए हुए अन्न को पचाता है।"

इसलिये ये सात ज्योतियां हैं (समान से पचाए हुए अन्न से

सात ज्वालाएं जगती हैं, दो कानों की, दो नाक की, दो नेत्रों की, एक मुख की)। इन सात ज्योतियों के बीच में ही हृदय है। इस हृदय में ही जीवात्मा का स्थान है, इसलिये पिप्पलाद ऋषि ने कहा—

'हृदि ह्येष आत्मा' निश्चय से यह आत्मा इस हृदय में ही है। हृदय शब्द का धात्वर्थ ऋषि दयानन्द ने स्वयं उणादि प्रत्यय के आधार पर स्पष्ट कर दिया है कि 'हृञ्' धातु हरना अर्थ में आता है, इसलिये विषयों को हरने के कारण हृदय शब्द बना। विषयों को हरने वाली इन्द्रियां, मन और बुद्धि हैं। परमात्मा भी सब प्राणियों के दुःखादि को हरता है, इसलिये ऋषि ने कई प्रकरणों में हृदय शब्द का अर्थ परमात्मा भी किया है। इसलिये मस्तिष्क में रहने वाले बुद्धि, मन और अन्तः-करण को हृदय नाम से भी पुकारा जाता है और जीवात्मा स्थूल देह के अन्तर्गत सूक्ष्म शरीर बुद्धि आदि के वेष्टन में रहता है। जब तक जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त नहीं कर लेता उस समय तक बुद्धि के आवेष्टन में निरन्तर रहना पड़ेगा और यह भी निश्चित है कि बुद्धि का स्थान मस्तिष्क में ही रहेगा।

दूसरा पक्ष

दूसरा पक्ष श्री राजवीर जी शास्त्री का है। उनका कथन है—शरीर में जीवात्मा का स्थान मस्तिष्क है अथवा हृदय? यह एक विवादास्पद एवं सूक्ष्म विषय है। सूक्ष्म विषय में ऋषियों के शास्त्रीय प्रमाण ही मान्य होते हैं और उन्हीं को मानना चाहिये। इस विषय में शास्त्रों की अविरुद्ध मान्यताएं देखिये—

(१) महर्षि दयानन्द—(अथ यदिदं०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के मध्य बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं उसके बीच में जो गर्त है इसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर और भीतर एक रस होकर भर रहा है वह आनन्दस्वरूप उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान या मार्ग नहीं है।

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, उपासना-विषय)

यह लेख महर्षि दयानन्द के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है।

(१) ऋषि दयानन्द का सिद्धान्त यह है—'सत्य और असत्य का निर्णय करने के लिये ये आठ प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव। इनमें जो शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति सम्भव और अभाव की गणना करें तो चार प्रमाण रह जाते हैं तथा इन पांच प्रकार की परीक्षाओं से मनुष्य सत्य और असत्य का निश्चय कर सकता है अन्यथा नहीं।

(२) विवादास्पद विषय में ऋषि दयानन्द को प्रमाण रूप से प्रस्तुत करने से ऋषि के ऊपर प्रतिज्ञा-हानि का कलंक आरोपित होता है। ऋषि की प्रतिज्ञा है—**"अथोपासना-विषये उपनिषदां प्रमाणानि।"**

अब उपासना के विषय में उपनिषदों के प्रमाण देते हैं, परन्तु ऋषि दयानन्द उपनिषद् के प्रमाण को छोड़ कर अपना काल्पनिक विचार उपस्थित कर रहे हैं। इस प्रकार का व्यवहार

जालसाज़ी कहा जाएगा। इसमें एक पक्ष युधिष्ठिर मीमांसक का है। उनका कहना है कि इस प्रकार का व्यवहार महर्षि दयानन्द का नहीं हो सकता, यह किसी पण्डित की जालसाजी है, अतः ऋषि दयानन्द निष्कलंक हैं। परन्तु श्री राजवीर जी शास्त्री का कथन है—"महर्षि साक्षात् योगी होने से असत्य नहीं लिख सकते, इसलिए उनकी मान्यता का खण्डन यह कहकर करना कि ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका की भाषा पण्डितों की है, ऋषि की नहीं और संस्कृत में ये बातें नहीं हैं, उनकी यह युक्ति तथ्यहीन है। इस ग्रन्थ का अनुशीलन करने वाले ऐतिहासिक तथ्यों को देखकर इसकी भाषा को पण्डितों की नहीं सिद्ध कर सकते, क्योंकि अनुवादक पण्डितों को यह अधिकार नहीं होता कि वे अपनी ओर से कुछ बढ़ा कर लिख सकें। हां, मूल लेखक ही बढ़ा कर लिख सकता है।"

समीक्षा

(क) राजवीर शास्त्री जी का यह कथन है कि 'महर्षि साक्षात् योगी होने से असत्य नहीं लिख सकते' ठीक है, इसीलिए ऋषि वर ने स्वयं उपनिषदों के प्रमाणों को हिन्दो में नहीं लिखा, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि उपनिषदों के प्रमाणों को ज्यों का त्यों रक्खा जाए। अतः उपनिषदों की भाषा को सरल समझकर संस्कृत में भाष्य नहीं किया। हिन्दी में अनुवाद करना पण्डितों के ऊपर छोड़ दिया। पण्डितों ने विश्वासघात किया और अपनी ओर से पौराणिक पण्डित वाचस्पति मिश्र और विज्ञान भिक्षु की टीकाओं से लेकर ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में हिन्दी अनुवाद के नाम से लिख दिया और यह कलंक का टीका महर्षि के माथे पर लगा दिया।

(ख) यह बात मानने के योग्य नहीं कि अनुवादकों को यह अधिकार नहीं होता कि वे अपनी ओर से कुछ बढ़ा सकें।

यह सर्वविदित है कि अनुवादक बिना अधिकार के भी अपने स्वार्थ के लिए चोरी छिपे अनुवादों में जोड़-तोड़ करते रहते हैं। उनमें से किसी का पता चल जाता है और किसी का नहीं चलता। इसलिए यह बात असम्भव नहीं कि ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका में स्वामी जी द्वारा लिखे गए उपनिषद् मन्त्र के हिन्दी अनुवाद में गड़बड़ भी किसी पण्डित द्वारा की गई थी। इसलिये ऐसा जाली लेख महर्षि दयानन्द जैसे योगी का नहीं हो सकता।

(ग) श्री राजवीर जी शास्त्री का कथन है कि "कुछ कहते हैं कि जो बात संस्कृत में नहीं है वह हिन्दी में कहां से आ गई? इसका उत्तर यह है कि महर्षि योगी थे, उन्होंने संस्कृत के प्रमाण भाग का सामान्य जनों के लिये स्पष्टीकरण किया है।" शास्त्री जी का यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है कि ऋषि के योगी होते हुए भी प्रमाण भाग की साधारण जनों में अनधिकृत व्याख्या की। जो कभी भी उचित नहीं हो सकती।

(घ) शास्त्री जी लिखते हैं—"अन्य विद्वानों का मत है कि यह तो रक्त-शोधक यन्त्र है, इसे नवीन विज्ञान के अनुसार हृदय कह देते हैं। यथार्थ में जीवात्मा का निवास-स्थान हृदय तो मस्तिष्क में है, परन्तु ये भी दया के पात्र हैं, जिन्हें शारीरिक विज्ञान का इतना भी बोध नहीं है कि महर्षि के लेखानुसार जो स्थान बताया गया है। वहां रक्त-शोध यन्त्र नहीं है। पुरुष सूक्त में हृदय को नाभि से १० अंगुल ऊपर माना है।"

इस लेख में श्री राजवीर जी शास्त्री की बड़ी भारी भूल हो गई है कि "पुरुष सूक्त में हृदय को नाभि से १० अंगुल ऊपर माना है।" महर्षि दयानन्द जी ने पुरुष-सूक्त का तो भाष्य भी नहीं किया है। उसमें यह लेख कहां से आ गया ? ऋषि दयानन्द ने तो ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ७१ सूक्त तक का ही भाष्य किया है। पुरुष सूक्त तो दसवें मण्डल में है जो ९०वां सूक्त है, उसे ही पुरुष सूक्त कहा जाता है। उसमें १६ मन्त्र हैं, उनमें कहीं भी हृदय शब्द नहीं है।

आपने शायद यजुर्वेद के ३१वें अध्याय के पहले मन्त्र को पुरुष सूक्त समझा हो ? पुरुष सूक्त के पहले मन्त्र में और यजुर्वेद के ३१वें अध्याय के मन्त्र में पाठ-भेद है, तथापि यजुर्वेद के ३१वें अध्याय के पहले मन्त्र में हृदय शब्द का वर्णन नहीं है। मन्त्र यह है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सभूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥

पदार्थ—हे मनुष्यो ! जो (सहस्रशीर्षा) सब प्राणियों के हजारों शिर (सहस्राक्षः) हजारों नेत्र और (सहस्रपात्) असंख्य-पाद जिसके बीच में है ऐसा (पुरुषः) सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक जगदीश्वर है। (सः) वह (सर्वतः) सब देशों से (भूमिम्) भूगोल में (स्पृत्वा) सब ओर से व्याप्त हो के (दशांगुलम्) पांच स्थूल भूत पांच सूक्ष्म भूत ये दश जिसके अवयव हैं, उस सब जगत को (अति, अतिष्ठत) उल्लंघन कर स्थित होता, अर्थात् सबसे पृथक् भी स्थिर होता है।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिस पूर्ण परमात्मा में हम मनुष्य

आदि के असंख्य शिर आंखें और पग आदि अवयव हैं जो भूमि आदि से उपलक्षित हुए पांच स्थूल और पांच सूक्ष्म भूतों से युक्त जगत् को अपनी सत्ता से पूर्ण कर जहां जगत नहीं वहां भी पूर्ण हो रहा है। उस सब जगत के बनाने वाले परिपूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप नित्य, शुद्ध, मुक्त स्वभाव परमेश्वर को छोड़ के अन्य की उपासना तुम कभी न करो, किन्तु उस ईश्वर की उपासना से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करो।

श्री राजवीर जी शास्त्री के कथन की पुष्टि यजुर्वेद भाष्य से भी नहीं हुई। प्रतीत होता है कि शास्त्री जी ने स्वयं यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का पहला मन्त्र नहीं पढ़ा, उन्होंने आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री के लेख को पढ़कर वह कथन किया है और वैद्यनाथ जी ने उसको—"नाभि से ऊपर १० अंगुल पर उसकी स्थिति है" कहा है। उन्होंने लिखा है--

"दशांगुल पद का अर्थ विश्व और हृदय दोनों हैं, इसका अर्थ जीव का हृदय भी हो सकता है, जिसकी माप १० अंगुल चौड़ी है।

—(ऋग्वेद भा० शता० सृष्टि-विद्या)

वैद्यनाथ शास्त्री का यह लेख गोलमोल है, स्पष्ट नहीं। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में लिखा है—"सहस्रशीर्षा पुरुषः—जिसके बीच में सब जगत् के असंख्यात् सिर आंखें और पग ठहर रहे हैं, उसको सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः और सहस्रपात् भी कहते हैं, क्योंकि वह अनन्त है। जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते हैं और आकाश सबसे अलग रहता है, अर्थात् किसी के साथ बन्धता नहीं है। इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो (स भूमि सर्वतः स्पृत्वा) यह पुरुष सब जगह से पूर्ण हो के पृथिवी तथा

लोकों को धारण कर रहा है (अत्यतिष्ठत्)। दशाङ्गुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है। इससे एक सीमित जगत् का ग्रहण होता है। पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म भूत ये सब मिल के जगत के दश अवयव होते हैं तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि चित्त और अहंकार ये चार मिल कर नव और दशवां जीव ये दश अवयव भी लिये जा सकते हैं और शरीर में जो हृदय देश है वह भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है। वह परमेश्वर इन तीनों में व्यापक होके इनके चारों ओर भी परिपूर्ण हो रहा है, इससे वह पुरुष कहलाता है, क्योंकि जो उस दशांगुल स्थान का भी उल्लङ्घन करके सर्वत्र स्थिर है वही सब जगत् का बनाने वाला है।"

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के इस उद्धरण को पढ़कर शास्त्री जी को अपनी भूल स्वीकार कर लेनी चाहिये कि ऋषि दयानन्द जी ने नाभि से १० अंगुल ऊपर हृदय को नहीं माना। शास्त्री जी को यह भी विचार करना चाहिये कि ऋषि ने यजुर्वेद के भाष्य में हृदय आदि का उल्लेख क्यों नहीं किया ? और भूमिका में हृदय का उल्लेख किस आधार पर किया ? और बढ़ते-बढ़ते ऋषि के विपरीत नाभि से दश अंगुल ऊपर हृदय को किस आधार पर लिया ? मेरा अनुमान है कि ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पहले लिखी गई थी और यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का भाष्य सबसे पीछे किया गया। यह भी निश्चय है कि भूमिका से पहले ही ऋषि ने उवटाचार्य और महीधराचार्य के भाष्यों को अच्छी तरह से पढ़ लिया था।

उवट भाष्य में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' के भाष्य में लिखा है—
'सः भूमिम् सर्वतः स्पृत्वा अति अतिष्ठत् दशाङ्गुलम्।' सः पुरुषः

नारायणाख्यः सर्वतः भुवन-कोशस्य भूमिम् स्पृत्वा व्याप्य दशाङ्गुलम् अत्यतिष्ठत्। दश च तानि अंगुलानि दशाङ्गुलानीन्द्रियाणि। केचिदन्यथा रोचयन्ति दशाङ्गुल-प्रमाणं हृदय-स्थानम्। अपरे तु नासिकाग्रं दशाङ्गुलमिति।"

अर्थात्—"सः भूमिम्—वह नारायण नाम वाला पुरुष (परमात्मा) सब ओर से भुवन के कोश भूमि में व्याप्त होकर दशांगुल को भी अतिक्रमण करके (दशाङ्गुल—दस इन्द्रियों को) ठहरता है। कुछ विद्वान् व्यर्थ में रुचि रखते हैं कि दशाङ्गुल प्रमाण का हृदय देश है और दूसरे तो कहते हैं नासिका ही दश अंगुल है।"

आचार्य उवट ने उक्त मन्त्र के भाष्य में स्वयं तो हृदय शब्द का प्रयोग नहीं किया, परन्तु दूसरे आचार्यों के सम्बन्ध में कहा है कि उन्होंने व्यर्थ में ही दशांगुल प्रमाण का हृदय देश कहा है। इसी मन्त्र के भाष्य में आचार्य महीधर ने लिखा है—

"सः पुरुषो भूमिं ब्रह्माण्डलोकरूपां सर्वतः तिर्यक् ऊर्ध्वमधश्च स्पृत्वा व्याप्य। स्पृणोतिर्व्याप्तिकर्मा। यद्वा भूमि शब्दो भूतोपलक्षकः। पञ्च भूतानि व्याप्य दशांङ्गुल-परिमितं देशमध्यतिष्ठत् अतिक्रम्यावस्थितः। दशांगुलमित्युपलक्षणम् ब्रह्माण्डाद्बहिरपि सर्वतः व्याप्यावस्थित इत्यर्थः। यद्वा नाभेः सकाशाद्दशांगुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः। नाभित इति कुतो लभ्यते 'कतम आत्मे' त्युपक्रम्य 'सोऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति' रितिश्रुतेः विज्ञानात्मनो हृद्यवस्थानं कर्मफलोपभोगाय अन्तर्यामिनो नियन्तृत्वेन।"

इसका अर्थ यह है—वह परमात्मा ब्रह्माण्डलोक रूप

वाली पृथ्वी को सब ओर मध्य, ऊपर और नीचे व्याप्त करके या भूमि शब्द पांच भूतों (अग्नि, जल, वायु, आकाश और पृथ्वी) का उपलक्षक है—पांच भूतों में व्याप्त होकर दशांगुल परिमित देश का उल्लंघन करके ठहरता है। दशांगुल ब्रह्माण्ड का उपलक्षण है, वह ब्रह्माण्ड से बाहर भी सब जगह व्याप्त हो रहा है, यह अर्थ है। अथवा 'नाभि के पास से दश अंगुल दूर होकर हृदय में ठहरता है' नाभि से क्यों कहा ?

इस में महीधर आचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् अ० ४ ब्राह्मण ३ के ७वें मन्त्र का प्रमाण दिया है, उसमें राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया था "**कतम आत्मेति ?**" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया "**योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः**" महीधर ने उपनिषद् के प्रमाण से लिखा है कतम आत्मा ? उत्तर दिया जो यह प्राणेषु (इन्द्रियों के बीच में) विज्ञानमय (चेतन स्वरूप) हृदय के अन्दर प्रकाश करने वाला जीवात्मा है। जीवात्मा का हृदय स्थान में रहना इसलिये कहा है कि अन्तर्यामी परमात्मा जीव को उसके कर्मफल को नियंत्रित करे।"

महीधर का यह मत था कि जीवात्मा का स्थान नाभि से दश अंगुल ऊपर हृदय में है, परन्तु ऋषि दयानन्द का मत था कि जीवात्मा का स्थान कंठ देश में है, जैसा कि यजुर्वेद के अध्याय १८ के दूसरे मन्त्र में लिखा है :—

'प्राणश्च मे' मेरा (प्राणः) हृदय जीवन मूल (च) और कण्ठ देश में रहने वाला है, इस मन्त्र में तीन प्राणों का वर्णन है- प्राण, अपान और व्यान। शरीर में इन तीनों का स्थान ऋषि ने इस प्रकार से लिखा है:—

(१) मेरा प्राण हृदय जीवन मूल कण्ठ देश में रहने वाला, (२) अपान नाभि से नीचे को जाने और नाभि में ठहरने वाला, (३) व्यान शरीर की सन्धियों में व्याप्त (१८ । २)। इसकी पुष्टि प्रश्न उपनिषद् से होती है । उसमें मुख्य प्राण है जिसका ठिकाना नाक, कान, आंख और मुख है । दूसरा अपान है जो नाभि से नीचे वायु और उपस्थ में कार्य करता है । व्यान सारे शरीर की नाड़ियों में विचरण करता है । हृदय का स्थान कण्ठ देश में रहता है । ऋषि ने भी ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका में यही कहा है ।

संस्कृत में भी लिखा है—**जीवस्य हृदयं दशाङ्गुल-परिमितम् ।** इसका अनुवाद हिन्दी में किया है—शरीर में जो हृदय देश है वह भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है । जिस मनुष्य का यह विश्वास है कि हृदय नाभि से दश अंगुल ऊपर है वह महीधर का अनुयायी है, महर्षि दयानन्द का अनुयायी नहीं है । क्योंकि ऋषि दयानन्द ने हृदय का प्रमाण दश अंगुल कहा है, इसके विपरीत महीधर नाभि से हृदय तक दश अंगुल कहता है, अर्थात् महीधर नाभि और हृदय के बीच के फासले को १० अंगुल कहता है परन्तु स्वामी दयानन्द हृदय की अपनी लम्बाई को दश अंगुल प्रमाण बतलाते हैं ।

दूसरी बात ऋषि दयानन्द हृदय का स्थान कण्ठ देश में कहते हैं, परन्तु इसके विरुद्ध महीधर हृदय का स्थान नाभि से दस अंगुल ऊपर छाती में मानता है । जिस का प्रमाण दो-तीन अंगुल ही होगा । इसलिये निश्चय होता है कि ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना - विषय के अन्तर्गत उनिषपद् के हिन्दी भाष्य के लिखने वाला महीधर और वाचस्पति मिश्र का अनुयायी

है ऋषि दयानन्द का अनुयायी कदापि नहीं हो सकता और दोनों स्तनों के बीच में जो स्थान है वहां हृदय की स्थिति इसलिये नहीं है कि हृदय शब्द का अर्थ है 'विषयों को हरण करने वाला। पांचों ज्ञानेन्द्रियां और मन शब्दादि विषयों का हरण करते हैं और उन हरण किये गये विषयों को मन बुद्धि को अर्पण कर देता है और बुद्धि उन विषयों को इन्द्रियों को अर्पण कर देती है। यह सब कार्य शरीर के अंगों में उत्तमांग शिर के अन्तर्गत मस्तिष्क में होता है। ये हृदयादि तत्व मस्तिष्क में रहते हैं जहां शरीर का संचालक जीवात्मा रहता है।

शरीर के मस्तिष्क भाग में जीवात्मा के रहने के पक्षधर विद्वानों के विरोध में श्री राजवीर शास्त्री जी ने महर्षि पतञ्जलि, महर्षि व्यास तथा महर्षि पणिनि के लेखों को उद्धृत किया है, परन्तु उनके उद्धरणों से मस्तिष्क में निवास होने का खण्डन नहीं हो सकता, क्योंकि जीवात्मा का स्थान मस्तिष्क मानने वालों का यह मत नहीं है कि 'हृदय, मस्तिष्क और मूर्धा' ये तीनों एक ही हैं, अपितु ये विद्वान् भी पतंजलि आदि के अनुसार इन पदार्थों को भिन्न-भिन्न मानते हैं। ये विद्वान् लोग मानते हैं कि शिर-कपाल के ऊपरी भाग में मूर्धा है, उस से नीचे बृहद्-मस्तिष्क, कपाल के पीछे भाग में लघु मस्तिष्क, दोनों के बीच में सुषुम्ना शीर्षक नाड़ी और बृहद् मस्तिष्क में हृदय देश है।

शास्त्री जी ने व्यास के भाष्य को उद्धृत किया है:—

(ख) (हृदये) **"यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तत्र संयमात् चित्त संवित्।"**

अर्थ—यह जो इस ब्रह्मपुर में अल्प(सूक्ष्म) कमल के समान

गृह है उसमें बुद्धि सत्त्व है, उसमें संयम करने से चित्त को बोध होता है।

शास्त्री जी को निष्पक्ष होकर विचारना चाहिये कि व्यास-भाष्य में स्पष्ट कर दिया है कि हृदय बुद्धि का स्थान है, जिसके साथ जीवात्मा का अटूट सम्बन्ध है। स्वयं व्यास ऋषि ने "चित्तेरप्रतिसंक्रमायाम्" (सूत्र ४। २२) के भाष्य में लिखा है—

न पातालं न च विवरं गिरीणां,
नैवान्धकारं कुक्षियो नोदधीनाम्।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं,
बुद्धि वृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते॥

अर्थ—पाताल में, पर्वतों की गुफा में, अन्धकार में, समुद्रों की खाड़ियों में, परब्रह्म परमात्मा का साक्षात् नहीं होता, किन्तु बुद्धि ही एक ऐसा स्थान है जिसमें विराजमान हुए परमात्मा का सदैव साक्षात्कार होता है, बुद्धि वृत्ति से उसका स्वरूप विशेष नहीं है ऐसा ही ज्ञानी पुरुष जानते हैं। (४। २२)

पातञ्जल योग-शास्त्र के दो सूत्रों का भाष्य करते हुए महर्षि व्यास ने हृदय-पुण्डरीक का वर्णन किया है—(१) 'प्रथम समाधि पाद सूत्र ३६। (२) विभूति पाद सूत्र ३४—इन दोनों सूत्रों के भाष्य की टीका वाचस्पति मिश्र ने की है। उस टीका में लिखा है —

हृदय पुण्डरीक इति—उदरोरसयोर्मध्ये यत् पद्मम-धोमुखं तिष्ठत्यष्टदलं रेचक-प्राणायामेन तदूर्ध्वमुखं कृत्वा तत्र चित्तं धारयेत्।

अर्थात्—पेट और छाती के बीच में जो कमल नीचे की ओर

मुख वाला है उसको रेचक प्राणायाम से ऊपर को मुखवाला करके वहां चित्त को धारण करे॥ १ । ३६ ॥

हृदये चित्त-संवित्--हृदयपदं व्याचष्टे, यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे बृहत्वात् तदेव पुण्डरीकमधोमुखं वेश्म मनसः। इसका भाषार्थ इस प्रकार से है—

हृदय पद को कहते हैं—जो यह इस ब्रह्मपुर में बड़ा होने से आत्मा ब्रह्म है उसका पुर—घर है। उसको ही वहां जानता है कि 'मैं हूं'। दहरं अर्थात् गढ़ा वह ही अधोमुख कमल मन का घर है। (विभूति पाद ३४ सूत्र)

वाचस्पति मिश्र के इस लेख को ही लेकर ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के विवादास्पद उपासना-विषय में किसी पण्डित ने प्रक्षेप किया है। 'योगी का आत्मचरित्र' में भी श्री दीनबन्धु ने वाचस्पति मिश्र के भाष्य का हिन्दी में अनुवाद किया है, जिसको ऋषि दयानन्द ने भाष्य भूमिका के ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय में निषिद्ध घोषित किया था, परन्तु राजवीर जी शास्त्री इसी निषिद्ध लेख को ऋषि दयानन्द का लेख मानते हैं।

शास्त्री जी ने अपने पक्ष में महर्षि पाणिनि के लेख को भी उद्धृत किया है। वहां लिखा है—

आत्मा बुद्धयासमेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम् ॥

(वर्णोच्चारण०)

इसका हिन्दी अनुवाद किया है—"जीवात्मा बुद्धि से अर्थों का संग्रह करके बोलने की इच्छा से मन को नियुक्त

करता है, मन जठराग्नि को ताड़ना करता है। जठराग्नि वायु को प्रेरित करती है और वायु वक्षस्थल में घूमती हुई (कण्ठादि को प्राप्त करके) स्वर अर्थात् ध्वनि को प्रकट करती है। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा का स्थान नाभि से दश अंगुल ऊपर दोनों स्तनों के मध्य में ही है और वहीं सूक्ष्म शरीर से आवेष्टित जीवात्मा रहता है और मन वहीं जठराग्नि की ताड़ना कर सकता है, मस्तिष्कगत होकर नहीं।

इस में भी शास्त्री जी ने बड़ी भूल की है। उनको जानना चाहिये कि :—

सामान्यकरण-वृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।

(सांख्यशास्त्र २।३१॥

अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान ये पांचों प्राण जो वायुरूप हैं सब करणों की साधारण वृत्ति हैं। पांचों प्राण समस्त १३ करणों का साधारण व्यवहार है। मन तो जैसा व्यापार वक्षस्थल में समान प्राण और जठराग्नि के साथ करता है वैसा ही अपान वायु के द्वारा मल-मूत्र के स्थानों में भी करता है। दश करण अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियां और ५ कर्मेन्द्रियां मन के आधीन हैं। इसलिये शास्त्री जी का चौथा प्रमाण भी शास्त्री जी के पक्ष का पोषक नहीं हो सकता।

श्री राजवीर शास्त्री की एक भूल और है। आप लिखते हैं—"इस विषय में यह भी ध्यान देने योग्य है कि श्री डा० योगेन्द्र कुमारादि कतिपय विद्वानों ने स्थूल इन्द्रियों को मस्तिष्कगत मानकर समस्त शास्त्रीय वचनों को लगाने का प्रयास किया है, किन्तु जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर के मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियादि सत्रह घटक हैं, जो जन्म-जन्मान्तरों में भी जीवात्मा के साथ रहते

हैं। हयस्लथू नेत्र आदि इन्द्रियां तो विद्युत बल्ब के तुल्य गोलक मात्र ही हैं। जैसे विद्युत् के सम्पर्क से बल्ब प्रकाशमान होता है वैसे ही सूक्ष्म शरीर के घटकों के सम्पर्क से नेत्रादि गोलक कार्य करते हैं और शास्त्रीय वचनों को स्थूल गोलक-परक लगाकर जीवात्मा के स्थान का निर्णय करना अत्यन्त भ्रान्ति-जनक है।"

यह बात तो साधारण व्यक्ति भी जानता है कि गोलक नेत्र नहीं है, नेत्र तो गोलक के अन्दर है। नेत्र के क्षतिग्रस्त होने पर गोलक के होते हुए भी व्यक्ति नेत्रहीन कहा जाता है। सांख्य शास्त्र कहता है—

अतीन्द्रियमिन्द्रियभ्रान्तानामधिष्ठाने।

अर्थात् इन्द्रिय (अतिसूक्ष्म होने से) अतीन्द्रिय (इन्द्रिय से ग्रहण न होने वाली) है। मूर्ख लोग गोलक को इन्द्रिय कह देते हैं। डा० योगेन्द्र भी इस बात को जानता है कि मस्तिष्क में काम करने वाली इन्द्रियां स्थूल नहीं हैं।

यह भी जानना चाहिये कि बल्ब का विद्युत् के सम्पर्क मात्र से प्रकाश नहीं होता, अपितु उस सूक्ष्म से तार के साथ विद्युत् का सम्पर्क होता है। बल्ब तो गोलक है, इस गोलक के भीतर विद्युत् को ग्रहण करने वाली शक्ति सूक्ष्म से तार में है। जीवात्मा स्वयं प्रकाश-स्वरूप है, इसके प्रकाश से बुद्धि प्रकाशित होती है। बुद्धि से मन और मन से सब इन्द्रियां प्रकाशित होती हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति जानता है कि सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा अपने में लीन होता है, उस अवस्था में जीवात्मा का बुद्धि के साथ भी सम्पर्क नहीं रहता, इसलिये इन्द्रियां भी प्रकाश रहित हो जाती हैं। इस ज्योतिस्वरूप जीवात्मा का स्थान मस्तिष्कगत

हृदय में है, इसलिये उसके अस्त्र-शस्त्र रूप इन्द्रियां भी उसके निकटवर्ती मस्तिष्क में ही रहती हैं। योगदर्शन में भी लिखा है—

दृग्दर्शन-शक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। (यो० २।६॥

अर्थात् अविद्या के कारण व्यक्ति जीवात्मा और बुद्धि को एकत्र देखकर उन दोनों को एक ही समझता है, इस अवस्था को अस्मिता नाम का क्लेश कहा जाता है।

उपनिषदों में—'हृदय की १०१ नाड़ियां कही है, उनमें एक मूर्धा की ओर गई है। उसके द्वारा आत्मा ऊपर जाकर अमृत को प्राप्त होता है। इस से स्पष्ट है कि हृदय और मूर्धा पृथक्-पृथक् हैं। हृदय और मूर्धा का एक नाड़ी के द्वारा सम्बन्ध है। छान्दोग्योपनिषद् में (८।६।३) भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। इस लेख के द्वारा भी शास्त्री जी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि मूर्धा और हृदय दोनों एक नहीं हैं, वे पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु उनका यह परिश्रम भी निरर्थक है, क्योंकि प्रतिवादी भी दोनों को पृथक्-पृथक् मानता है। परन्तु शास्त्री जी ने हृदय की एक सौ एक (१०१) नाड़ियां कहकर अपने ही पक्ष का खण्डन किया है, क्योंकि १०१ नाड़ियां न तो रक्तवाहक हृदय में और न दोनों स्तनों के बीच में हैं। हृदय की १०१ नाड़ियों का केन्द्र तो मस्तिष्क में ही है। हृदय और मूर्धा को जोड़ने वाली कड़ी भी मस्तिष्क ही है।

आपने छान्दोग्योपनिषद् के ८।६।३ का उद्धरण दिया है। उसमें मूर्धा को जाने वाली नाड़ी के साथ कोई मेल नहीं है। वहां तो भिन्न-भिन्न रंग वाली नाड़ियों का वर्णन है। वहां तीसरे खण्ड में लिखा है :—

तद् यत्र तत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सुप्तो भवति। तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति ।३।।

अर्थ—जिस अवस्था में यह जीवात्मा सोया हुआ सम शान्त और प्रसन्न होता है और स्वप्न को नहीं जानता, उस समय वह इन (भिन्न-भिन्न रंग वाली) नाड़ियों में प्रविष्ट होता है। उस समय उसको कोई भी पाप स्पर्श नहीं करता,उस समय आत्मा तेज से ही सम्पन्न होता है।

श्री राजवीर जी शास्त्री ने अपने लेख की समाप्ति इस प्रकार से की है —"श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने आत्मा का स्थान नामक पुस्तक में यद्यपि दो हृदय माने हैं, पुनरपि जीवात्मा का निवास नाभि से दस अंगुल मानते हुए लिखा है—

(क) उपनिषदों के आधार पर हमारे शरीर में दो हृदय सिद्ध होते हैं। एक स्तन के नीचे छाती के वाम भाग में और दूसरा तालु के ऊपर शिर में।......आत्मा मन के ऊपर अधिकार करने के बाद ही विज्ञान और आनन्द की प्राप्ति के लिये इस हृदय में पहुंचता है। इस से पहले वह दूसरे हृदय में रहता है।

(ख) **चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्**......इस प्रसंग में अपान के नाभि में प्रवेश करने से प्रथम मन के हृदय में प्रवेश का उल्लेख है। हमारी नाभि से ऊपर के भाग में वह ही स्थान है जो हमारे स्तनों के नीचे वाम भाग में है।... अतः यह सिद्ध है कि मन का निवास इस हृदय में है। सभी इन्द्रियों का अधिष्ठाता यह मन इसी हृदय में रहता है (१४-१५ पृ०)

इस लेख में भी कोई शब्द ऐसा नहीं जो राजवीर जी के

सिद्धान्त की पुष्टि करता हो, परन्तु झूठ का सम्मिश्रण इसमें भी कर दिया कि 'आत्मा का स्थान, नामक पुस्तक में यद्यपि दो हृदय माने हैं, पुनरपि जीवात्मा का निवास नाभि से १० अंगुल ऊपर मानते हुए लिखा है—

समीक्षा

(ग) स्वामी आत्मानन्द जी ने 'नाभि से दश अंगुल ऊपर का लेख कहीं नहीं किया। श्री राजवीर शास्त्री ने अपने लेख 'शरीर में जीवात्मा का स्थान और शास्त्रीय विवेचन' म आदि अन्त में झूठ का सहारा लिया। आरम्भ में टिप्पणी लिखी 'पुरुष सूक्त में हृदय को नाभि से १० अंगुल ऊपर माना है, वेदों में यह कहीं नहीं है। अन्त में पुनरपि जीवात्मा का निवास नाभि से दस अंगुल ऊपर मानते हुए लिखा है 'यह भी कहीं नहीं सिद्ध होता। लेख के बीच ५ प्रमाण व्यर्थ हैं, क्योंकि वह प्रतिवादी के विरुद्ध नहीं। इसलिए प्रतिवादी का पक्ष पूर्ण रूप से सत्य है।

आचार्य श्री वैद्यनाथ शास्त्री का मत— श्री योगेन्द्र कुमार के विरोध में इस विषय में दो विचार अब तक रहे हैं—

एक के अनुसार मन और जीवात्मा का स्थान मस्तिष्क है और दूसरे के अनुसार हृदय है। वास्तविक विचारणा मन को लेकर प्रारम्भ हुई कि मन मस्तिष्क में है या हृदय में है ? वेद के अनुसार मन का स्थान हृदय में है, यजुर्वेद में आये शिव-संकल्प सूक्त में मन को **'हृत्-प्रतिष्ठं'** कहा है, अर्थात् वह मन हृदय में रहता है। आयुर्वेद और दूसरे कुछ आधारों पर कुछ लोग कहते हैं कि मन मस्तिष्क में रहता है। महर्षि का पक्ष मन की स्थिति को हृदय में मानने का है। इस **"हृत्-प्रतिष्ठं"** की व्याख्या में उन्होंने ऐसा ही माना है। मन को मस्तिष्क में मानने वाले

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिका प्रथमो यः कपालम् ।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥
तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ २७ ॥

अर्थ—जो देव इस पुरुष देह के मस्तिष्क की, ललाट—माथे की और जो (प्रथमः) सब से प्रथम विद्यमान इस पुरुष के गले की घेंटी और कपाल खोपड़ी की और पुरुष देह के दोनों जबड़ों के बीच की रचना बनाकर प्रकाश स्वरूप द्यौः या मोक्षपद में व्याप्त हुआ है वह देव कौनसा है ?

अथर्ववेद का यह मन्त्र इस रहस्य को बतलाता है कि मनुष्य के शरीर की सब से पहली रचना शिर की खोपड़ी से ले कर शिर के सब से निचले भाग जबड़ों तक होती है। इसलिये इस सिर की खोपड़ी में ही जीवात्मा का स्थान है और उसी शिरो-भाग में ही पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन और बुद्धि भी रखी जाती हैं।

(२) अथर्वा प्रजापति परमात्मा इस पुरुष के मूर्धा (शिर के ऊपरी भाग) को और हृदय को सीकर जब मस्तिष्क से ऊपर और शिर के भी ऊपर प्राणस्वरूप होकर स्वयं समस्त देहों को गति दे रहा है, अर्थात् वह परमात्मा ही सब देहों में चेतना को यन्त्रों के कारीगर के समान चला रहा है। वह सब के मस्तिष्क और शिरों के ऊपर अध्यक्ष रूप से विद्यमान है।२६॥

(३) अथर्वा प्रजापति का बनाया हुआ वह सिर ही देव-कोष इन्द्रियों का मूल आवरण या निवास-स्थान बना हुआ

है, उस शिर की प्राण चारों ओर से रक्षा करता है और अन्न और मन भी उसकी रक्षा करते हैं।

इस से भी यही सिद्ध होता है कि प्रजापति परमात्मा ने सब से पहले शिर की रचना की और इस ही सर्वोत्तम अंग के अन्दर जीवात्मा और उसके साथ ही इन्द्रियों और मन को भी रखा है।

(४) ऋग्वेद मण्डल ६ सूक्त ९ मन्त्र ६ में लिखा है—

वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुर्वी,
इदं ज्योतिर्हृदयं आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किं,
स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥

अर्थ—(श्री स्वामी योगानन्द द्वारा)—ये दोनों कान इधर-उधर दूर-दूर गिर रहे हैं, मेरे नयन भी इधर-उधर दौड़ रहे हैं, (हृदय यद् इदम् ज्योतिः) हृदय में स्थापित जो यह ज्ञानरूप ज्योति है वह भी (विपतयति) दूर भाग रही है, (दूरे आधी मे मनः विचरति) अतिदूरस्थ विषय में ध्यान लगाकर मेरा यह मन भी दूर-दूर विचरण कर रहा है। ऐसी अवस्था में हे प्रभो! आपसे क्या मैं कहूं और क्या नमन करूं?

आशय यह है कि प्रत्येक मनुष्य का नित्य यही अनुभव है कि कर्ण, चक्षु, मन आदि इन्द्रियां किसी कार्य में स्थिर नहीं रहतीं किञ्चित्मात्र ही मौका मिलने पर झट से इधर-उधर भागने लगती हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य सूक्ष्म विचार नहीं कर सकता। सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता मन ही है। मन को वश में करने से सब इन्द्रियां वश में हो जाती हैं। इसीलिये

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास में लिखा है—

"जब उपासना करना चाहे तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर आसन लगा, प्राणायाम कर, बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक मन को नाभि प्रदेश में वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न होकर संयमी होवे।

वेदों के उक्त मन्त्रों से और महर्षि के लेखों से यह स्पष्ट है कि हृदय शब्द का प्रयोग दो स्थानों के लिये प्रयुक्त हुआ है। एक वह स्थान है जहां सारे शरीर से शिरा और धमनी के द्वारा दूषित रक्त प्रवेश करता है और फेफड़ों के द्वारा अशुद्ध रक्त शुद्ध होकर धमनी द्वारा वहां से सारे शरीर में पहुंचता है। यह स्थान छाती के दायें स्तन के नीचे से वक्ष-स्थल के बायें भाग में रहता है। दूसरा हृदय वहां है जहां मस्तिष्क के अन्दर मुख्य प्राण का कार्य (कण्ठ, नासिका, आंख और दोनों कान हैं) चलता है, वहां बुद्धि के आवेष्टन में आत्मा का निवास है। इसका प्रमाण स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र २ से और प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न से तथा अथर्ववेद १०।२।२६-२७। से तथा ऋग्वेद के ६।६।६। से होता है। अतः सिद्ध है कि जीवात्मा का स्थान मस्तिष्कान्तर्गत हृदय में है और उसके आस-पास ही पांच ज्ञानेन्द्रियां मन सहित रहती हैं, परन्तु परमात्मा की प्रेरणा से जीवात्मा मन को अनेक स्थानों से रोककर एक ही स्थान में बांध देता है और केवल बुद्धि सत्व के द्वारा ईश्वर की भक्ति में लीन हो जाता है। समाधि-अवस्था में सभी इन्द्रियां और

अन्तःकरण बुद्धि सहित सब शान्त होकर अपने-अपने कार्य को बन्द कर देते हैं। आयुर्वेद के शास्त्रों में ऋषि दयानन्द ने 'चरक और सुश्रुत' इन दो को ही प्रमाण माना है। इन में से चरक शास्त्र ने बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

प्राणाः प्राणभृतां यत्र, श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥ (च० सू० १७)

शिरः पूर्वमभिनिवर्तते ते कुक्षाविति कुमारशिरः भरद्वाजः पश्यति सर्वेन्द्रियाणां तदधिष्ठानमिति कृत्वा। (च० शा० ६)

गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं शिरः संभवति इत्याह शौनकः शिरः मूलत्वात् प्रधानेन्द्रियाणाम् ॥ (सु० शा० ३)

अर्थ—(१) प्राणियों के प्राण जहां रहते हैं और सारी इन्द्रियां (मन सहित) भी जहां रहती हैं जो सब अंगों में सब से उत्तम है उसको शिर कहा जाता है।

(२) सन्तान की उत्पत्ति के समय पहले शिर ही बाहर निकलता है, भरद्वाज ऐसा देखता है, इस लिये सब इन्द्रियों का स्थान शिर ही है।

(३) गर्भस्थिति के समय में भी सम्भव यही है कि सब से पहले शिर ही बनता है, ऐसा शौनक ऋषि कहता है। शिर के मूल होने से सब इन्द्रियों में शिर ही प्रधान है।

मानव-शरीर में जीवात्मा के रहने का स्थान कौन सा है ? इस पर गवेषणा करते हुए मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, और अथर्ववेद के प्रमाणों से यह प्रमाणित किया है कि गर्भ-स्थापना के समय मातृ-कुक्षि में सबसे पहले जीवात्मा प्रवेश करता है, जीवात्मा

अपने सूक्ष्म शरीर से आवेष्टन से युक्त मातृ-पितृ रजोवीर्य से आवेष्टित होता है। शरीर की रचना प्रारम्भ होने पर सबसे पहले सिर कपाल के ऊपरी भाग से लेकर हनु (ठोडी) तक रचना करके उसमें मूर्धा, मस्तिष्क, हृदय, पांचों ज्ञानेन्द्रियां, प्राण और मन को रखा। अथर्व वेद के १०वें काण्ड के केन सूक्त में शरीर की रचना का ही वर्णन हुआ है, उसमें ३३ मन्त्र हैं।

आचार्य श्री वैद्यनाथ जी ने दशवें काण्ड के उक्त मन्त्र का छूता सा अर्थ तो किया, परन्तु उसको समझने का प्रयत्न नहीं किया। केवल यह कह कर कि "महान परमेश्वर ने इन जीवों के मूर्धा को सीकर और हृदय को भी···" इस मन्त्र में स्पष्ट हृदय और मूर्धा को पृथक्-पृथक् बताया गया है तथा यह कह दिया कि परमेश्वर स्वयं मस्तिष्क से बाहर हो गया, अर्थात् वह कोरे मस्तिष्क का विषय नहीं।

यह पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ कि आचार्य कहलाने वाले व्यक्ति ने वेद मन्त्र की अवहेलना करते हुए झूठ का सहारा लिया। न तो कोई आर्य विद्वान् मूर्धा और हृदय को एक ही मानता है और न हृदय को मस्तिष्क से बाहर मानता है। वेद मन्त्र में यह कहीं नहीं कहा गया कि "परमेश्वर मस्तिष्क से बाहर हो गया।" मन्त्र में तो लिखा है। **मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रैरयत पवमानोऽधि शीर्षतः'** इसका अर्थ है—'मस्तिष्क से ऊपर और शिर के भी ऊपर होकर, प्राण स्वरूप होकर स्वयं समस्त देहों को गति दे रहा है, अर्थात् वह परमात्मा ही सब देहों में चेतना को यन्त्रों में कारीगर के समान चला रहा है। वह सब के मस्तिष्क और सिरों के ऊपर अध्यक्ष रूप से विद्यमान है।

जिस प्रकार आचार्य श्री वैद्यनाथ शास्त्री ने बिना किसी प्रयोजन के अथर्व वेद के मन्त्र की अवहेलना की है, इसी प्रकार से बिना किसी प्रयोजन के ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ७१वें सूक्त में **'हृत्प्रतिष्ठेषु मनसो जवेषु'** लिख दिया। प्रयोजन था शरीर में 'जीवात्मा का स्थान' इस को सिद्ध न कर सके तो 'हृदय और मस्तिष्क एक नहीं' ले बैठे। यह कोई नहीं मानता कि हृदय और मस्तिष्क एक हैं। मान्यता तो यह है कि हृदय मस्तिष्क के अन्तर्गत है, इन दोनों में आधार-आधेय सम्बन्ध है। मस्तिष्क बड़ा है और हृदय सूक्ष्म है, इसलिये हृदय मस्तिष्क का एक भाग है।

मन के सम्बन्ध में श्री वैद्यनाथ शास्त्री ने जो कुछ कहा है वह भी चिन्तनीय है। आप ने लिखा--"महर्षि का पक्ष मन की स्थिति हृदय में मानने का है। इस हृत्प्रतिष्ठ की व्याख्या में ऐसा ही माना है। मन को मस्तिष्क में मानने वाले हृदय को भी मस्तिष्क मानते रहे हैं। वास्तविकता यह है कि मन तो रहता हृदय देश में ही है, परन्तु उसका गोलक मस्तिष्क में है।"

मन क्या है? इसको समझाने का प्रयत्न शास्त्री जी ने किया ही नहीं है। महर्षि दयानन्द ने मनस्तत्त्व के महत्त्व को समझाने के लिये शिव-संकल्प सूत्र की व्याख्या की है, इस सूक्त का मन्त्रद्रष्टा ऋषि शिव-संकल्प ऋषि था। इस सूत्र के छः मन्त्र हैं। इन की पूरी-पूरी व्याख्या महर्षि दयानन्द ने संस्कृत और आर्यभाषा में की है। इस व्याख्या को ध्यान पूर्वक समझे बिना कोई भी व्यक्ति मनस्तत्त्व को समझने में असमर्थ रहता है। इस सूत्र के छः मन्त्रों का देवता 'मन' ही है। परन्तु यहां 'मन' का अर्थ संकल्प-विकल्पात्मक मन ही नहीं है, अपितु यहां मनस्तत्त्व अन्तःकरण चतुष्टय का प्रतिनिधि है। यजुर्वेद अध्याय ३४ के ६

मन्त्रों का संक्षेप से ऋषिवर ने इस प्रकार से भावार्थ किया है—

१--जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा को मानते और विद्वानों का साथ करके अनेक विध सामर्थ्य-युक्त मन को शुद्ध करते हैं जो जागृतावस्था में विषय विकार वाला है वही मन सुषुप्ति अवस्था में शान्त होता है, जो वेगवाले पदार्थों में अति वेगवान् ज्ञान के साधक होने से इन्द्रियों के प्रवर्त्तक मन को वश में करते हैं वे अशुभ व्यवहार को छोड़ शुभ व्यवहार में मन को प्रकट कर सकते हैं।

२--मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की उपासना सुन्दर विचार विद्या और सत्संग से अपने अन्तः-करण को अधर्माचरण से निवृत्त कर धर्म के आचरण में प्रवृत्त करें।

३--हे मनुष्यो ! जो अन्तःकरण बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप वृत्ति वाला होने से चार प्रकार से भीतर प्रकाश करने वाला प्राणियों के सब कर्मों का साधक अविनाशी मन है उसको न्याय और सत्य के आचरण में प्रवृत्त कर पक्षपात अन्याय और अधर्माचरण से तुम लोग निवृत्त करो।

हे मनुष्यो ! जो चित्त योगाभ्यास के साधन और उपसाधनों से सिद्ध हुआ भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल का ज्ञाता, सब सृष्टि को जानने वाला, कर्म उपासना और ज्ञान का साधक है उसको सदा ही कल्याण में प्रिय करो।

५--हे मनुष्यो ! तुम लोगों को चाहिए जिस मन के स्वस्थ रहने में ही वेदादि विद्याओं का आधार और जिस में सब व्यवहारों का ज्ञान एकत्र होता है उस अन्तःकरण को विद्या और धर्म के आचरण द्वारा पवित्र करो।

६--इस मन्त्र में दो उपमालंकार हैं—जो मनुष्य जिस पदार्थ में आसक्त है वही बल से सारथी घोड़ों को जैसे वैसे प्राणियों को ले जाता और लगाम से सारथी घोड़ों को जैसे वैसे वश में रखता है, सब मूर्ख जन जिसके अनुकूल वर्तते और विद्वान् अपने वश में करते हैं, जो शुद्ध हुआ सुखकारी और अशुद्ध दुःखदायी, जो जीता हुआ सिद्धि को और न जीता हुआ असिद्धि को देता है, वह मन मनुष्यों को अपने वश में रखना चाहिये।

ऋषि दयानन्द ने वेद-मन्त्रों के आधार पर मनुष्यों को आदेश दिया है कि मनुष्य अपने शरीर का स्वामी है। शरीर के सब अंगों को वह अपनी इच्छा के अनुसार काम में लगा सकता है। जीवात्मा के कर्मों का सब से बड़ा और मुख्य साधक अन्तःकरण चतुष्टय है। यहां मन ही अन्तः करणों का प्रतिनिधि है, इसलिये ऋषि ने इस व्याख्या का शीर्षक भी यही रखा है "अथ मनसो वशीकरण-विषयमाह"—अब मन को वश में करने का विषय कहते हैं।"

ऋषि ने ६ मन्त्रों की व्याख्या में मन को वश में करने के उपाय बताकर अन्त में कहा:—

"जो मन (सुषारथि) जैसे सुन्दर चतुर सारथी गाड़ीवान् (अश्वानिव) लगाम से घोड़ों को सब ओर से चलाता है, वैसे ही (मनुष्यान्) मनुष्यादि प्राणियों को (नेनीयते) शीघ्र-शीघ्र इधर-उधर घुमाता है और (अभीशुभिः) जैसे रस्सियों से (वाजिनः) वेग वाले घोड़ों को सारथी वश में करता है वैसे हो नियम में रखता (यत्) जो (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में स्थित (अजिरम्) विषयादि में प्रेरक वा वृद्धादि अवस्था से रहित और अत्यन्त

वेगवाला है वह मेरा मन मंगलमय नियम में इष्ट होवे।

जिस मन में उपर्युक्त ६ मन्त्रों में कही हुई क्षमताएं उत्पन्न हो जाती हैं, वही मन हृदय में रहता है। अनिष्ट भावनाओं से युक्त मन हृत्प्रतिष्ठ नहीं हो सकता। मन और संकल्प कैसे होने चाहिये? ऋषि ने लिखा--'मन' संकल्प-विकल्प, २ मनन-विचार करना रूप मन। ३--कर्मों का साधन रूप मन। ४--योगयुक्त चित्त। ५--सर्व पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान-युक्त। ६--अजिर और जविष्ठ शिव-संकल्प वाला भी है।

१. कल्याणकारी धर्म विषयक इच्छा वाला। २. धर्मेष्ट। ३. कल्याणकारी परमात्मा में इच्छा रखने वाला। ४. मोक्ष रूप संकल्पवाला। ५. कल्याणकारी वेदादि सत्य शास्त्रों के प्रचार रूप संकल्प वाला। ६. मंगलमय नियम में इष्ट।

अन्त में सारांश यह निकला--सब मूर्खजन जिसके अनुकूल वर्तते और विद्वान् जिसे अपने वश में करते हैं, जो शुद्ध हुआ सुखकारी और अशुद्ध हुआ दुःखदायी है, जो जीता (जीता गया) सिद्धि को और न जीता (हारा) हुआ असिद्धि को देता है। वह मन मनुष्यों को अपने वश में रखना चाहिये।

ऋषि दयानन्द ने जीवात्मा का स्थान कण्ठ देश में माना है, जैसा कि उन्होंने यजुर्वेद के १८वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में लिखा है—"प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे।" मेरा (प्राणः) हृदय जीवन मूल (च) और कण्ठ देश में रहने वाला पवन··· (यज्ञेन) धर्म के अनुष्ठान से समर्थ हो।"

यदि राजवीर जी शास्त्री और आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

सच्चे हृदय से महर्षि दयानन्द के अनुयायी होते तो ये दोनों शास्त्री महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद के १८वें और ३१वें अध्यायों के भाष्य का विरोध न करते, परन्तु इन दोनों शास्त्री महोदयों ने ऋषि के वेद-भाष्यों का तो विरोध किया, परन्तु महीधर और वाचस्पति मिश्र के लेखों को सत्य मान कर लिखा कि मन का और जीवात्मा का स्थान शरीर में हृदय देश है, वह अंगुष्ठ मात्र है। नाभि से ऊपर १० अंगुल पर उसकी स्थिति है।"

ऋषि ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में हृदय शब्द के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा है—"**जीवस्य हृदयं दशांगुल-परिमितं च**" हिन्दी में अनुवाद किया—और शरीर में जो हृदय देश है वह भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है।

राजवीर जी शास्त्री ने तो इन वचनों के स्थान में लिखा "पुरुष सूक्त में हृदय को नाभि से १० अंगुल ऊपर माना जाता है।" राजवीर शास्त्री जी का यह कथन सर्वथा झूठ है। मैं प्रियवर राजवीर जी से अनुरोध पूर्वक कहूंगा कि यदि वे ऋषि दयानन्द के सच्चे अनुयायी हैं तो वे इसके लिये प्रायश्चित्त करें और महीधर के नाभि सम्बन्धी वचनों का विरोध करें और ऋषि के यजु० अ० १८ मन्त्र २ के भाष्य को स्वीकार करें कि जीवात्मा का स्थान हृदय में—कण्ठ देश में है और दोनों स्तनों के बीच में हृदय का होना असिद्ध मानें तो समझा जायेगा कि आप हृदय से ऋषि दयानन्द के अनुयायी हैं अन्यथा मैं यह विश्वास कर लूंगा कि आप अपने पूर्वाग्रहों से चिपटे हुए हैं।

श्री वैद्यनाथ जी शास्त्री के विचारों की अच्छी प्रकार से छान-बीन करके पता चल गया कि उनकी आस्था ऋषि दयानन्द

के सिद्धान्तों के प्रति नगण्य है। उनकी अवस्था 'आधा तीतर आधा बटेर वाली है। आप कहते हैं—"वास्तविकता यह है कि मन तो रहता हृदय देश में ही है, परन्तु उसका गोलक मस्तिष्क में है।" इद्रियों के गोलकों को छोटे से बालक भी बतला सकते हैं, परन्तु क्या यह आचार्य शास्त्री बतला सकते हैं कि मस्तिष्क में मन का कौन सा गोलक है? वास्तविकता यह है कि आप यह भी नहीं जानते कि मन क्या वस्तु है? जिसको आपने "नाभि-प्रदेश में व हृदय कण्ठ में स्थिर करें" कहा है वह क्या है? मैं सत्य कहता हूं कि वैद्य नाथ जी शास्त्री महर्षि दयानन्द के भावों को समझ ही नहीं पाये हैं।

योग-दर्शन में मन का अर्थ होता है—"चित्त, बुद्धि और मन" अर्थात् ये तीनों एक अर्थ वाले हैं। वहां हृदय शब्द का भाव वह रक्त-वाहक यन्त्र नहीं, जिसे दिल भी कहते हैं जिसका स्थान वाम स्तन के नीचे बाईं ओर है। वह न तो जीवात्मा का निवास-स्थान है और न मन का। आपको शायद पता नहीं कि सांख्य दर्शन और योग-दर्शन जीवात्मा को विभु मानते हैं, परिच्छिन्न नहीं। पातञ्जल - योग शास्त्र में केवल ३।३४ सूत्र में हृदय शब्द का प्रयोग हुआ है (**हृदये चित्त संवित्**) अर्थात् हृदय प्रदेश में संयम करने से चित्त का ज्ञान हो जाता है। इसमें जीवात्मा के निवास स्थान होने का कोई संकेत नहीं। योग-दर्शन के चतुर्थ पाद के २२वें सूत्र के भाष्य में व्यास ऋषि ने लिखा है—

"न पातालं न च विवरं गिरीणां,
नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।

गुहायस्यां निहितं ब्रह्मशाश्वतं,
बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते ॥२२॥

अर्थात्—पाताल में, पर्वतों की गुफा में, अन्धकार में, समुद्रों की खाड़ियों में परब्रह्म-परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु बुद्धि ही एक ऐसा स्थान है जिसमें विराजमान हुए परमात्मा का सदैव साक्षात्कार होता है। बुद्धि वृत्ति से उसका स्वरूप विशेष नहीं है, ऐसा ही ज्ञानी पुरुष जानते हैं। इसलिये योग-भाष्य से यह सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा और मन का स्थान "हृदय-पुण्डरीक" है।

सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में लिखा है—"जब उपासना करना चाहें तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर आसन लगा कर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक मन को नाभि प्रदेश में वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न होकर संयमी होवे।"

इससे यही सिद्ध होता है कि मन के रहने का एक स्थान नहीं है, अपितु शरीर में जीवात्मा के स्थिति-काल में सुषुप्ति अवस्था को छोड़कर यह चञ्चल मन न केवल अपने शरीर के प्रत्येक भाग में ही आता-जाता है, अपितु शरीर के बाहर भी आता-जाता है।

ऋषिवर ने यजुर्वेद के ३४वें अध्याय के ६ मन्त्रों में मन-स्तत्व की व्याख्या में मन की शक्तियों का और उसको वश में करने उपायों का वर्णन किया है, अन्त में वह जीवात्मा के निवास स्थान हृदय देश में (हृत्स्थ) ठहरने वाला हो जाता है, यह योगा-

वस्था की पराकाष्ठा है। इसी को **'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः"** कहा गया है।

श्री राजवीर जी शास्त्री ने "दयानन्द सन्देश मासिक पत्र" के दिसम्बर १९८३ के अंक में "शरीर में जीवात्मा का स्थान" लिखा है और आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री के लेखों को उद्धृत किया है, परन्तु उनके द्वारा अपने पक्ष में कोई भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया जा सका। स्वामी दयानन्द जी ने प्रमाण के सम्बन्ध में कहा है—'शिष्टाचार'जो धर्माचरण-पूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्या-ग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार है और जो इसको करता है वह शिष्ट कहाता है।

श्री राजवीर जी शास्त्री का पक्ष था—"कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के मध्य बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त्त है, उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है।"

(उपासना-विषय)

इसकी पुष्टि में शास्त्री जी लिखते हैं—(१) महर्षि की इस मान्यता को न मानने वाले विपक्षी विद्वान् जिन बातों से खण्डन करते हैं उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन यहां कराया जाता है, क्योंकि उनकी समस्त बातें तर्कहीन तथा प्रमाण-हीन होने से मान्य नहीं

हो सकतीं—

(क) महर्षि साक्षात् योगी होने से असत्य नहीं लिख सकते······

(ख) कुछ कहते हैं कि जो बात संस्कृत में नहीं है, वह हिन्दी में कहां से आ गई ?

इसका उत्तर यह है कि महर्षि योगी थे, उन्होंने संस्कृत के प्रमाण भाग का सामान्य जनों के लिये स्पष्टीकरण किया है।

(ग) किसी विद्वान् का मत है कि यह तो परमात्मा की प्राप्ति का स्थान बताया है।

(घ) अन्य विद्वानों का मत है कि यह तो रक्त-शोधक यन्त्र है, इसे नवीन विज्ञान के अनुसार हृदय कह देते हैं। यथार्थ में जीवात्मा का निवास हृदय तो मस्तिष्क में है। परन्तु ये भी दया के पात्र हैं, जिन्हें शारीरिक विज्ञान का इतना भी बोध नहीं है कि महर्षि के लेखानुसार जो स्थान बताया गया है वहां रक्त-शोधक यन्त्र नहीं है। पुरुष - सूक्त में हृदय को नाभि से १० अंगुल ऊपर माना है।

अपने पक्ष की पुष्टि में शास्त्री जी ने चार प्रमाण लिखे हैं टिप्पणी के रूप में, परन्तु इनमें तीन लेख तो प्रमाण नहीं माने जा सकते, उनको न्याय-दर्शन के अनुसार साध्य-सम-हेत्वाभास कहा जाता है, क्योंकि उन कथनों में कोई हेतु नहीं दिया गया। चौथे प्रमाण पर विचार किया जा सकता है। वहां ऋषि दयानन्द के पुरुष-सूक्त के भाष्य का नाम लिखा गया है, परन्तु पुरुष सूक्त तो ऋग्वेद के दसवें मण्डल में ९०वां सूक्त है। उसका भाष्य

तो ऋषि दयानन्द ने किया ही नहीं। यदि यजुर्वेद के ३१वें अध्याय के पहले मन्त्र **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** के भाष्य की बात कही गई तो वहां पर तो हृदय शब्द का संकेत तक भी नहीं। यदि "भाष्य भूमिका" के नाम से कहा जाए कि "पुरुष सूक्त में हृदय को नाभि से १० अंगुल ऊपर माना है।" तो यह भी झूठ है और दुगना झूठ है। परन्तु जिनको शास्त्री जी ने दया के पात्र और सर्वथा अबोध कहा उन्होंने सिद्ध कर दिया कि ऋषि दयानन्द जीवात्मा का स्थान मष्तिस्क-गत हृदय में मानते थे, जैसा कि उन्होंने यजुर्वेद अध्याय १८ के दूसरे मन्त्र के भाष्य में लिखा है—

१. **प्राणश्चमेऽपानश्च मे व्यानश्च मे"।**

—(यजु० अ० १८ मन्त्र २४)

पदार्थ—(मे) मेरा (प्राणः) हृदय जीवन मूल (च) और कण्ठ देश में रहने वाला पवन (मे) मेरा (अपानः) नाभि से नीचे को जाने (च) और नाभि में टहरने वाला पवन सब धर्म के अनुष्ठान से समर्थ हो" यहां हृदय का स्थान कण्ठ देश कहा है।

२. **'सहस्रशीर्षा पुरुषः····' दशांगुलम्** ॥१॥

सं० भाष्य—एवमेवान्यदपि जीवस्य हृदयं दशांगुल-परिमितम् च तृतीयं गृह्यते।

हिन्दी अनुवाद—शरीर में जो हृदय देश है वह भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया है (यजु० अध्याय ३१ मन्त्र १) यहां भी हृदय का स्थान वही है जो अ० १८ मन्त्र २ में कण्ठ देश में कहा गया है।

आश्चर्य की बात है कि राजवीर जी शास्त्री जैसे ऋषि

दयानन्द के कट्टर अनुयायी ऋषि के यजुर्वेद के १८वें और ३१वें अध्याय के भाष्य को तो स्वीकार न करें, जो सर्वथा प्रमाण के योग्य है, परन्तु प्रमाण-रहित किसी पौराणिक पण्डित के महीधर और वाचस्पति मिश्र की पुस्तकों से लेकर ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना विषय में लिखे हुए जाली लेख को "बाबा वाक्यं प्रमाणं" माने बैठे हैं।

अच्छा तो यही है कि हमें पूर्वाग्रहों को छोड़कर महर्षि के आदेश को मानते हुए 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के परित्याग करने में सदैव उद्यत रहना चाहिए।

ई वैदिक पुस्तकालय मुम्बई

आचार्य धर्मपाल आर्य

सम्पर्क - ~~मुम्ब~~ - 9029421718

श्री भवानी लाल जी भारतीय द्वारा लिखित ग्रन्थ "नव-जागरण के पुरोधा—दयानन्द सरस्वती" के पृष्ठ १०६ पर एक घटना का उल्लेख है :—

एक दिन जिस स्थान पर स्वामी जी उपदेश कर रहे थे, एक उजड्ड प्रकृति का व्यक्ति एक मोटा लट्ठ लेकर आया और उपदेश कर्ता संन्यासी को सम्बोधित करके कहने लगा—

"अरे साधु ! तू ही मूर्ति-पूजा का खण्डन करता है और देवी-देवताओं की निन्दा करता है ? बता इस लट्ठ को तेरे शरीर पर कहां मारकर तुझे समाप्त करूं ?"

इस धृष्ट व्यक्ति की उद्दण्डता पूर्ण वाणी को सुन कर तो समस्त श्रोता-मण्डल ही स्तम्भित रह गया, किन्तु श्री स्वामी जी महाराज ने नितान्त अविचलित भाव से कहा—

'यदि तू मेरे उपदेशों को अनुचित समझता है तो इसका अपराधी तो मेरा यह मस्तिष्क (शिर) है, जो मेरे सारे विचारों का उद्गम-स्थल है। तुझे मेरे इस मस्तिष्क पर ही प्रहार करना चाहिये।" यह कहकर स्वामी जी ने प्रखर दृष्टि से उस आत-तायी को देखा। उनके इस प्रकार दृष्टि-निक्षेप करने मात्र से ही उस हिंस्र-भावापन्न व्यक्ति का रोष लुप्त हो गया। चरणों में नत होकर उसने अपने अपराध की क्षमा-याचना की। निर्लेप संन्यासी के लिए क्षमा-दान कठिन नहीं था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन की उपरोक्त घटना से आत्मा का स्थान शिरस्थ हृदय में सिद्ध होता है या छाती प्रदेश में ? इसका निर्णय पाठकों की बुद्धि स्वयं ही कर सकती है। ●

परिशिष्ट

श्री भवानी लाल जी भारतीय द्वारा लिखित ग्रन्थ "नव-जागरण के पुरोधा—दयानन्द सरस्वती" के पृष्ठ १०६ पर एक घटना का उल्लेख है :—

एक दिन जिस स्थान पर स्वामी जी उपदेश कर रहे थे, एक उजड्ड प्रकृति का व्यक्ति एक मोटा लट्ठ लेकर आया और उपदेश कर्ता संन्यासी को सम्बोधित करके कहने लगा—

"अरे साधु ! तू ही मूर्ति-पूजा का खण्डन करता है और देवी-देवताओं की निन्दा करता है ? बता इस लट्ठ को तेरे शरीर पर कहां मारकर तुझे समाप्त करूं ?"

इस धृष्ट व्यक्ति की उद्दण्डता पूर्ण वाणी को सुन कर तो समस्त श्रोता-मण्डल ही स्तम्भित रह गया, किन्तु श्री स्वामी जी महाराज ने नितान्त अविचलित भाव से कहा—

'यदि तू मेरे उपदेशों को अनुचित समझता है तो इसका अपराधी तो मेरा यह मस्तिष्क (शिर) है, जो मेरे सारे विचारों का उद्गम-स्थल है। तुझे मेरे इस मस्तिष्क पर ही प्रहार करना चाहिये।" यह कहकर स्वामी जी ने प्रखर दृष्टि से उस आत-तायी को देखा। उनके इस प्रकार दृष्टि-निक्षेप करने मात्र से ही उस हिंस्र-भावापन्न व्यक्ति का रोष लुप्त हो गया। चरणों में नत होकर उसने अपने अपराध की क्षमा-याचना की। निर्लेप संन्यासी के लिए क्षमा-दान कठिन नहीं था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन की उपरोक्त घटना से आत्मा का स्थान शिरस्थ हृदय में सिद्ध होता है या छाती प्रदेश में ? इसका निर्णय पाठकों की बुद्धि स्वयं ही कर सकती है। ●

लेखक की प्रकाशित कुछ अन्य पुस्तकें

१. वृक्ष जीवधारी हैं

बहुत समय से आर्य विद्वानों में इस विषय पर मतभेद चला आ रहा है कि 'वृक्षों में जीव है या नहीं ?' श्री स्वामी दर्शनानन्द जी, पं० गङ्गा प्रसाद उपाध्याय व आज के भी अनेक विद्वानों का मत है कि "वृक्ष जड़ हैं।" दूसरी ओर पण्डित गणपति शर्मा व अन्य कई विद्वानों का विचार रहा है कि वृक्षों में जीव है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि वनस्पति-विज्ञान भी वृक्षों को जड़ नहीं स्वीकार करता। इस महत्वपूर्ण विषय को तर्क की कसौटी पर बड़े वैज्ञानिक ढंग से श्री पूर्णचन्द्र शास्त्री (वर्तमान स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती) जी ने अपूर्व विश्लेणात्मक शैली में सुलझा दिया है और उन्होंने वेदों तथा ऋषि दयानन्द की मान्यता के अनुसार वृक्षों में जीव की सत्ता को सिद्ध कर दिया है। "वृक्ष जीवधारी हैं" नामक यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

आज तक वृक्षों को जड़ मानने वाले विद्वान् १३ वर्षों में इस पुस्तक का उत्तर नहीं दे पाये, क्योंकि पुस्तक में तर्क व प्रमाण अकाट्य हैं।

२. ब्रह्मचारी कृष्णदत्त बनाम शृंगी ऋषि पोल-प्रकाश

ब्रह्मचारी कृष्णदत्त (बरनावा-मेरठ) को शृंगी ऋषि का अवतार मानने का भ्रम आर्य समाजियों में भी बढ़ता चला गया।

व्यापक रूप से फैलते जा रहे इस नवीन पाखण्ड को दूर करने के लिए ब्रह्मचारी कृष्णदत्त के सुप्तावस्था में दिये गये सैंकड़ों प्रवचनों के संग्रह को पुस्तकों में बड़ी ऊहापोह से पढ़ा, वेदों और ऋषि दयानन्द की आड़ में यज्ञों के प्रदर्शन करके कुछ स्वार्थी तत्त्वों के सहयोग से यह मधु-मिश्रित विष आर्य-जनता को भी पिलाया जा रहा था। श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती ने उक्त पुस्तक लिखकर आर्य सज्जनों को सचेत किया। इस पुस्तक की अनेक उच्च-कोटि के विद्वानों ने भी प्रशंसा की है। इस पुस्तक के विषय में अधिकृत विद्वानों की सम्मतियां भी प्रकाशित कराई गई हैं।

३. योगी का आत्म-चरित्र एक षडयन्त्र है

जिस प्रकार योगिराज श्री कृष्ण के उदात्त जीवन चारित्र को श्रीमद् भागवत पुराण में पंडित वोपदेव ने मलिन कर रख दिया, इसी प्रकार महर्षि दयानन्द के जीवन में काल्पनिक बातें और चमत्कारों को जोड़कर सस्ती लोक-प्रियता के इच्छुक पंडित दीन बन्धु शास्त्री और योगी सच्चिदानन्द जी ने एक पुस्तक लिखी है "योगी का आत्म-चरित्र" (एक अज्ञात जीवनी)।

यद्यपि उस समय जागरूकता के अभाव में सार्वदेशिक सभा का भी आंशिक सहयोग इस पुस्तक के प्रकाशन में मिल गया, फिर भी बाद में अनेक माननीय और अधिकृत विद्वानों ने इस पुस्तक को झूठ का पुलन्दा बताया। डाक्टर भवानीलाल भारतीय ने इसे एक नवीन उपन्यास बताया व एक विद्वान् ने इसे पुराण की संज्ञा दी।

इस पुस्तक के जबरदस्त खण्डन में सन् १९७३ ई० में ही श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती ने "आर्य मर्यादा" में ३२ लेख

लिखे थे। उन लेखों व इस विषय से सम्बन्धित सामग्री की उपयोगिता को समझते हुए उस समस्त सामग्री को इस पुस्तक में प्रकाशित कराया गया है। इस पुस्तक के प्रमाण अकाट्य सिद्ध हुए हैं। निर्वाण शताब्दी (१९८३)में प्रकाशित ग्रन्थ"नव जागरण के पुरोधा ऋषि दयानन्द" में भी इस पुस्तक की चर्चा आई है। इस पुस्तक के अधिकाधिक प्रचार से ऋषि दयानन्द के पावन जीवन की सुरक्षा हो सकेगी।

ये सभी पुस्तकें प्राप्त करने का पता—

श्री यशोवर्धन शास्त्री आर्य नगर, नेहरू रोड़ बड़ोत.

जिला मेरठ (यू.पी.) २५०६११

अप्रकाशित पुस्तकें

इनके अतिरिक्त लेखक की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें अभी अप्रकाशित हैं जैसे—१. इस्लाम मत पर भारत के मुसलमान भाइयों से एक बिरादराना अपील। २. ईसाई मत पर—ईसा की मृत्यु का रहस्य। आजकल भी आप **"दयानन्द का योग"** विषय पर लेख लिख रहे हैं। हम आपके स्वाध्याय व परिश्रम की सफलता की आकांक्षा करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में

विद्वज्जनों के उद्‌गार

[नव-प्रकाशित पुस्तक "मानव शरीर और जीवात्मा" पर सम्मति जानने हेतु अनेक गण्य-मान्य आर्य विद्वानों के पास यह पुस्तक भेजी गई व निश्चित अवधि में जो-जो सम्मतियां प्राप्त हुईं उनको भी प्रकाशित किया जा रहा है। यह भी प्रसन्नता और गर्व की बात है कि उपलब्ध सम्मतियों में लग-भग सभी विद्वान् महानुभावों ने पुस्तक का व लेखक के पक्ष का समर्थन ही किया है। यह सारा प्रयास आर्य विद्वानों में मतैक्य-स्थापना हेतु किया गया है।] —सम्पादक

श्री स्वामी मुनीश्वरानन्द जी महाराज

संस्थापक—गुरुकुल महाविद्यालय ततारपुर (हापुड़)

श्री स्वामी पूर्णानन्द जी वयोवृद्ध अनुभवी मननशील एवं वैदिक सिद्धान्तों के पारङ्गत विद्वान् हैं। आपकी नवीन रचना "मानव शरीर और जीवात्मा" मैंने बड़े ध्यान से पढ़ी। शरीर में जीवात्मा का स्थान कहां पर है? इस समस्या को आपने पाण्डित्यपूर्ण ढंग से, युक्ति और प्रमाणों से, बहुत ही अच्छी रीति से सुलझाया है। 'जीवात्मा का स्थान मस्तिष्कस्थ हृदय में है' आप इस मन्तव्य के सम्पादन में पूर्णतया सफल हुए हैं। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

—**मुनीश्वरानन्द सरस्वती त्रिवेद-तीर्थः**

[एक

श्री स्वामी यज्ञानन्द जी महाराज

श्रीमद् दयानन्द वेदविद्यालय गौतम नगर नई दिल्ली

श्री सम्पादक जी नमस्ते,

श्रद्धेय श्री स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज द्वारा लिखित "मानव शरीर और जीवात्मा" नामक पुस्तक पढ़ी। पुस्तक में विद्वान् लेखक ने विषय को स्पष्ट करने के लिये वेद, शास्त्र, उपनिषद्, आयुर्वेद आदि प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि शरीर में जीवात्मा का स्थान मस्तिष्कान्तर्गत हृदय में है। स्वाध्यायशील जिज्ञासुओं को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये।

—यज्ञानन्द सरस्वती

श्री प्रियव्रत वेद-वाचस्पति

भूतपूर्व आचार्य एवं कुलपति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

प्रियवर पं० राम कुमार जी

सप्रेम नमस्ते !

सर्वदा सानन्द होंगे। आपका २-८-८४ का पत्र मिला। आपकी भेजी श्री स्वामी पूर्णानन्द जी की पुस्तक "मानव शरीर और जीवात्मा" भी मिल गई थी। मैंने श्री स्वामी पूर्णानन्द जी की इस पुस्तक को ध्यान से पढ़ा है। मैं स्वामी जी के विचारों से पूर्णतया सहमत हूं कि शरीर में जीवात्मा का स्थान मस्तिष्क में ही है, हृदय में नहीं। श्री स्वामी जी ने वेद-मन्त्रों, उपनिषदों और

चरक आदि आयुर्वेद के ग्रन्थों के प्रमाणों से स्पष्ट रूप में सिद्ध किया है कि जीवात्मा का स्थान मस्तिष्क में हो है। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से भी प्रमाणों को स्वामी जी ने अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है और प्रतिपादित किया है। ऋषि की मान्यता भी यही है कि शरीर में आत्मा का स्थान मस्तिष्क ही है। आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञानियों ने मस्तिष्क के सम्बन्ध में जो अनुसंधान किये हैं उन से भी यही सिद्ध होता है कि चेतना या आत्मा का केन्द्र-स्थान मस्तिष्क ही है। स्वामी जी ने यह पुस्तक लिखकर एक गहन विषय को सुलझाने का बड़ा स्तुत्य काम किया है। श्री स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज इसके लिए वधाई के पात्र हैं।

—प्रियव्रत वेद-वाचस्पति

प्रो० मनुदेव बन्धु

प्राध्यापक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय वेद-बिभाग (हरिद्वार)

आत्मा का स्थान कहां है ? इस विवाद को शान्त करने को विद्वान लेखक स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती जी ने अपनी पुस्तक "मानव शरीर और जीवात्मा" में स्तुत्य प्रयास किया है। आत्मा का निवास शिरस्थ हृदय में है, वैदिक मन्त्रों व स्वामी दयानन्द के वाक्यों का आश्रय लेकर पक्ष-पोषण का सफल प्रयास श्री स्वामी जी ने किया है।

मेरा भी दृढ़ मत है कि आत्मा का निवास शिर वाले हृदय में हैं, क्योंकि आज के डाक्टर हृदय परिवर्तन कर देते हैं। हृदय

परिवर्तन से रोगी यथापूर्व अपना कार्य करता रहता है, अत: विद्वान् लेखक का विचार तर्क संगत तथा वैज्ञानिक है। इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार व प्रसार होना चाहिये। इसी शुभ कामना के साथ—

—प्रो. मनुदेव बन्धु

श्री ओमपाल शास्त्री एम. ए. पी-एच-डी.

पुरोहित आर्य समाज सै०- 7, चण्डीगढ़

मान्यवर,

पण्डित श्री रामकुमार जी आर्य !

आपके द्वारा सम्पादित तथा पूज्यपाद श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती द्वारा रचित पुस्तक "मानव शरीर और जीवात्मा" सम्मति हेतु प्राप्त हुई। यह विषय आर्य जगत में अधूरा ही था। पूज्य-पाद स्वामी जी ने जिस उत्कृष्ट शैली एवं तर्कों (प्रमाणों) के साथ इस विषय को आर्य जनों तक पहुंचाया है, इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। ईश्वर उनको चिरायु प्रदान करें।

—ओमपाल शास्त्री

श्री भद्रसेन वेद-दर्शनाचार्य

साधु आश्रम होशियारपुर

प्रस्तुत पुस्तक का बाह्य-रूप कागज, मुद्रण, रूप-सज्जा की दृष्टि से आकर्षक एवं उपयुक्त है, इसके साथ अन्तरंग रूप भी प्रशंसनीय है, इसमें विषय का विवेचन सरलता और सरसता के

साथ सुरुचि पूर्ण ढंग से किया गया है । विषय का प्रतिपादन शास्त्र-प्रमाण तथा युक्ति-तर्क से किया गया है और समझाने का ढंग भी आकर्षक है। अतएव कुछ पुनरुक्ति भी हो गई है, परिवर्तन और परिवर्धन की परम्परा सदा ही चलती रहती है। अपने विषय-विवेचन की दृष्टि से इस पुस्तक के योगदान को सदा स्मरण किया जायेगा। आशा है आर्य युवक सभा लुधियाना अपनी इस योजना को ऐसे ही गतिशील रखेगी।

—भद्रसेन वेद-दर्शनाचार्य

श्री राजेन्द्र जिज्ञासु

कविता-कुञ्ज अबोहर

पं० राम कुमार जी,

सप्रेम नमस्ते !

कृपा-पत्र प्राप्त हुआ व पुस्तक भी मिली, स्नेह के लिए आभार मानता हूं। पुस्तक से भी अधिक मुझे श्री स्वामी जी के दर्शनों की चाह है। अजमेर में खोजा था, पर वह आए ही नहीं। कभी स्वामी जी को आप मेरे पास १५ दिन के लिए रखें। घर पर सेवा करूंगा और उनके संस्मरण ले कर उनका जीवन लिखूंगा।

"मानव शरीर और जीवात्मा" पुस्तक देखी, स्वामी श्री पूर्णानन्द जी का अध्ययन गम्भीर है। उनके मनन-चिन्तन पर हमें गर्व है, वे समाज की विभूति हैं। उनकी यह कृति पठनीय वा विचारणीय है। ऐसी सैद्धान्तिक पुस्तक का प्रकाशन होना ही चाहिये था। आचार्य राजबीर जी के मत का प्रतिवाद करते हुए

'झूठ' शब्द न लगा कर 'अठीक' लगाना अधिक अच्छा होता ... ऋषि के भाष्य के प्रमाण प्रबल हैं। पृ० ७९ पर जो पुराण-संज्ञा की बात है सो मैंने ही ऐसा लिखा था। यह संज्ञा मैंने ही दी थी। मुख पृष्ठ सुन्दर है। छपाई दोष-मुक्त है। प्रकाशन पर बधाई।

—राजेन्द्र जिज्ञासु

आचार्या प्रज्ञा देवी

पाणिनि कन्या महाविद्यालय पो. बजरडोहा, तुलसीपुर वाराणसी

माननीय भाई राम कुमार जी !

सादर नमस्ते

आपका कृपा-पत्र एवं पुस्तक प्राप्त हुई। पुस्तक को मैं आद्योपान्त पढ़ गई हूं। लेखक ने श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक के अनुसार ही आत्मा का स्थान प्रतिपादित किया है। बहुत अच्छा है। पुस्तक पसंद आई है।

किम् अधिकम् !

— **आचार्या प्रज्ञा**

डा० नारायण मुनि चतुर्वेदः

भूतपूर्व प्रधानाचार्य—गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर

श्रद्धेय स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती द्वारा लिखित 'मानव शरीर और जीवात्मा" नामक पुस्तक ध्यानपूर्वक पढ़ी गई।

आपने बड़े परिश्रम के साथ पाण्डित्य पूर्ण शैली में जीवात्मा का निवास स्थान मस्तिष्क में, वेदों के, उपनिषदों के और योग

दर्शन के व्यास भाष्य के साथ सङ्गति लगाते हुए सिद्ध किया है। साथ ही महर्षि दयानन्द के लेखों में विरोध का भी परिहार किया गया है।

यह आर्य जगत का एक बहुत बड़ा उपकार है। आपको बधाई है। साथ ही प्रभु से प्रार्थना है कि वे आपको दीर्घायुष्य प्रदान करें और आपकी सब शुभ इच्छायें पूर्ण करें।

डा० नारायण मुनिश्चतुर्वेदः
वर्तमान प्राचार्य उपदेशक महाविद्यालय

श्री शिवपूजन सिंह कुशवाहा एम. ए.

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका 'वेदवाणी' पत्रिका के संयुक्त सम्पादक द्वारा सितम्बर 1984 के अंक में प्रकाशित

मानव शरीर और जीवात्मा

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती हैं। आप दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर के पुराने स्नातक व श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब के महोपदेशक थे। आपके दर्शन मैंने लाहौर में तब किये थे जब आप महोपदेशक थे। स्वामी जी जैसे उच्च श्रेणी के वक्ता हैं वैसे ही उच्चकोटि के लेखक भी हैं। "मानव शरीर और जीवात्मा" में स्वामी जी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शरीर में "जीवात्मा कहां है"? कुछ लोग "जीवात्मा, का स्थान हृदय में मानते हैं, 'जैसे दयानन्द सन्देश' के सम्पादक महोदय का विचार है। महर्षि कृत 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका' पर टिपणी लिखते हुए सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं०युधिष्ठिर जी मीमांसक मस्तिष्क के अन्तर्गत मानते हैं। आपने

'वैदिक सिद्धान्त मीमांसा'' नामक ग्रन्थ में वेद, ब्राह्मण और आयुर्वेद ग्रन्थों के आधार पर इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डाला है। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती महाराज ने अनेक प्रबल पुष्ट प्रमाणों से मस्तिष्क में ही 'जीवात्मा' का स्थान माना है, वही हृदयाकाश है। आपने विरोधियों के आक्षेपों का सप्रमाण निराकरण किया है। पुस्तक विद्वत्तापूर्ण प्रबल पुष्ट प्रमाणों सहित है। प्रत्येक आर्य समाजी को यह पुस्तक पढ़नी चाहिये और प्रत्येक आर्य समाज के पुस्तकालय में ऐसी पुस्तक का होना अनिवार्य है।

—शिवपूजन सिंह कुशवाहा एम० ए०

डा० भवानी लाल भारतीय

संयुक्त मंत्री—परोपकारिणी सभा,

प्रबन्ध सम्पादक—'परोपकारी' पत्रिका

श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती आर्य समाज के गम्भीर तथा चिन्तनशील विद्वान् हैं। ''मानव शरीर और जीवात्मा'' उनकी नवीन कृति है जिसमें बहुत से प्रमाण देकर यह सिद्ध किया गया है कि जीवात्मा का स्थान शिरोभाग है न कि वक्षस्थल। इस विषय को लेकर विभिन्न विद्वानों में नाना प्रकार के मतभेद दिखाई देते हैं, किन्तु श्री स्वामी जी ने अपने गहन अध्ययन तथा शास्त्रावलोकन से इस सम्बन्ध में जो स्थापनाएं की हैं वे निर्विवाद तथा अकाट्य हैं। आशा है इस पुस्तक का अध्ययन करने से जीवात्मा की शरीर में स्थिति विषयक सभी विवाद शान्त हो जायेंगे।

आर्य युवक सभा लुधियाना ने इस उत्तम ग्रन्थ का प्रकाशन कर एक श्लाघनीय प्रयास किया है। ग्रन्थ की छपाई तथा साज-सज्जा आकर्षक है।

डा० भवानी लाल भारतीय
अध्यक्ष दयानन्द शोधपीठ, चण्डीगढ़

श्री रामधन जी

लुधियाना के वयोवृद्ध, निष्काम सेवी आर्य,
अनेक पुस्तकों के लेखक, सम्पादक तथा निःशुल्क वितरणकर्ता

उक्त पुस्तक के मूल लेखक श्रद्धेय स्वामी श्री पूर्णानन्द जी सरस्वती हैं। पुस्तक का अध्ययन करने से इसके रचयिता महानुभाव जी की लेखन-कला, उनके शास्त्रीय प्रमाणों की बहुलता और उपयोगिता से उनके विस्तृत तथा अति व्यापक शास्त्र-ज्ञान का बोध निश्वस्त रूप से पाठकों को हो जाता है।

किन्तु उनका प्रतिपाद्य विषय इतना गहन और गम्भीर है जो सामान्य स्तर के पाठक महानुभावों के लिए सुगमता से ग्राह्य नहीं है। फिर भी श्री स्वामी जी का श्रम प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त प्रशंसनीय तथा अभिनन्दनीय है।

श्री पं० रामकुमार जी आर्य का सम्पादक के रूप में किया गया श्रम भी सराहनीय और अनुकरणीय है और सभी पाठकों तथा इस पुस्तक के प्रकाशक-मण्डल का भी हमें अत्यन्त आभारी होना चाहिये, जिनके इस शोभनीय उपकार से हम सभी उपकृत हुए हैं।

[नौ

यही सर्वोपरि याज्ञिक कृत्य है। भगवान सभी की बुद्धियों को पवित्र और सात्विक बनाये रखें।

—रामधन लुधियाना

श्री रणवीर भाटिया

भूतपूर्व प्रधान—आर्य समाज दाल बाजार लुधियाना

मान्यवर श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती द्वारा लिखित 'मानव शरीर में जीवात्मा का स्थान' पुस्तक पढ़ी। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी जी ने अपने विषय की पुष्टि में सप्रमाण तथा युक्ति-युक्त वेद-मन्त्रों की व्याख्या करके अपने विचारों के आशय को स्पष्ट करने का सफलता पूर्वक प्रयास किया है। मैं यह मानता हूं कि यह एक गहन विषय है, पर गहन विषय को सत्यता के आधार पर सद् ग्रन्थों में से प्रमाण लेकर अपने विचारों में लाना भी तो किसी-किसी ही विद्वान् का काम है।

आर्य युवक सभा भी वधाई की पात्र है कि उसने श्री स्वामी जी के इस प्रयास को पुस्तक रूप में प्रकाशित करवा कर एक महान कार्य किया है, हालांकि यह कार्य आर्य समाज की शिरो-मणि सभाओं का है कि वे ऐसे साहित्य के प्रकाशन की ओर विशेष ध्यान देवें, परन्तु वर्तमान नेताओं की इस ओर रुचि नगण्य है। एक बार फिर प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन पर युवकों को वधाई देता हूं। यह उनका प्रथम प्रयास था, फिर भी पुस्तक उपयोगी तथा आकर्षक बन पड़ी है।

रणवीर भाटिया

प्रधान—सुईंग मशीन ऐसोसिएशन (रजि.) लुधियाना

(संस्कारासमुच्चयः—इस महा ग्रन्थ के प्रणेता)

श्री मदनमोहन विद्यासागर

आर्य विद्वान् पूर्णानन्द सरस्वती द्वारा रचित, पं० रामकुमार आर्य-पुरोहित (लुधियाना) द्वारा सम्पादित **"मानव शरीर और जीवात्मा"** नामक पुस्तक देखी-पढ़ी-समझी।

मनुष्य पहले तो इसको जानने-समझने में उलझा रहता है कि—"मैं हूं भी या नहीं ?" फिर सोचता है "मैं हूं क्या ?" शरीर या तद्भिन्न ?" फिर खोजने लगता है कि "मैं इस शरीर में रहता कहां हूं ?"

इस प्रकार की "स्वरूप विषयक जिज्ञासा" व "स्वस्थान सम्बन्धी अनुसन्धान" दार्शनिक जगत् में पुरातन काल से चला आ रहा है। इस विषय में अधिकसम्मत निर्णय यह है कि "जीवात्मा शरीर से भिन्न है और वह हृत्प्रतिष्ठ—हृदय देश में निवास करता है।"

परन्तु फिर संशय होता है कि वह 'हृत्प्रदेश—हृदय' शरीर में कहां है ? वह जीवात्मा हृदय **[हृदि अयं]** में रहता है, पर इस "हृदय" की स्थिति कहां है ? कण्ठ के ऊपर शिरोभाग में स्थित "ज्ञानसंवाहक" मस्तिष्क में या फिर कण्ठ से नीचे नाभि से ऊपर "रक्त प्रक्षेपक" नाम से प्रसिद्ध दोनों स्तनों के बीच के प्रदेश में ?

इन दोनों प्रदेशों में जहां भी 'हृत्-गुहा' है वहां उसी में जीवात्मा का प्रवेश—निवास है।

कुछ का मत है—"जीवात्मा उस हृदय में रहता है जो रक्त-संचालक है और जो कण्ठ से नीचे, नाभि से ऊपर दोनों स्तनों के मध्य में स्थित है।"

कुछ का मत है—"जीवात्मा उस हृदय में रहता है जो शिरोगुहा में स्थित मस्तिष्क से सम्बद्ध है।"

हमारे विचारक ऋषियों का मत है कि "यस्तर्केणानुसन्धत्ते सधर्मं वेद नेतरः तथा "वेदोऽखितोधर्मं मूलम्" और "लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तु सिद्धिः"। इस के अनुसार सत्य निर्णय के लिये ऋषि दयानन्द ने कसौटी नियत की कि "जो जो वेदों के अर्थात् ईश्वर द्वारा प्रदत्त सत्यज्ञान के अनुकूल है, वह प्रमाण और मान्य है।"

इस दृढ़ आधार पर इस पुस्तक के रचयिता श्री स्वामी पूर्णानन्द जी ने "मानव शरीर मेंब्रह्मपुरमेंआयोध्यापुरी में जीवात्मा के निवास का जो अनुसन्धान विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है, यह अत्यन्त प्रशंसनीय है।

उनकी एतद्विषयक विवेचन पद्धति किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से शून्य है और वेद शास्त्रानुकूल है क्योंकि सूक्ष्म शरीर जीव के साथ ही रहता है और इसकी स्थिति 'कपाल' में है, सो जीवात्मा की स्थिति भी यहीं होनी चाहिये। यह बहुत सीधी और स्पष्ट बात है।

पाठकों को यह भी स्मरण करना चाहिये कि 'इच्छा ज्ञान प्रयत्न' और 'सुख दुःखाऽनुभूति' ये जीव की सत्ता के द्योतक हैं। इनके साधन, सब इन्द्रियां और मन बुद्धि ये सब भी मस्तिष्क या मूर्धा से ही संचालित होते हैं। सो इनका संचालक अधिष्ठाता भी तो, वहीं उस केन्द्र में स्थित होना चाहिये।

विद्वज्जन निष्पक्षपात हो, इस पुस्तक को पढ़ें, ऐसी हमारी प्रार्थना है, स्वामी जी की कलम से ऐसी उत्तम अन्य पुस्तकें निकलें, ऐसी कामना है। पुस्तक का अभिनन्दन है और श्री स्वामी जी के लिये हमारा वन्दन है।

मदनमोहन विद्यासागर, हैदराबाद

श्री सुखवीर सिंह भारद्वाज

खन्ना नगर, हरिद्वार

चिरायु रामकुमार जी आर्य !

आपके द्वारा प्रेषित पुस्तक "मानव शरीर और जीवात्मा" को पढ़ कर आर्य समाज के उस अतीत काल का स्मरण हो आया जिस समय आर्य-सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए ही मान्य विद्वानों का पूर्ण प्रयत्न हुआ करता था। वास्तव में जिस संस्था के मौलिक सिद्धान्त सुरक्षित रहते हैं, वही संस्था फलती-फूलती है। केवल बड़े-बड़े व सुन्दर भवनों का नाम आर्य समाज नहीं है। महर्षि दयानन्द ने भवनों से बाहर रहकर भी जितना धर्म का प्रकाश किया वह अतुलनीय है। उसी महर्षि के सजग प्रहरी आर्य-संन्यासी श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती को आज के वातावरण में भी दृढ़ भावना व साहस से पूर्ण देखकर किस आर्य सज्जन को इस महान् विभूति पर गर्व नहीं होगा ? उनकी नवीन कृति "मानव शरीर और जीवात्मा" में प्रतिपादित पक्ष का मैं समर्थन करता हूं। प्रस्तुत पुस्तक की लेखन कला से प्रतीत होता है कि पूज्य स्वामी जी जीवन भर स्वाध्याय-रत रहकर आर्य समाज के गहन तथा सूक्ष्म सिद्धान्तों को समझने व प्रचार करने में सक्रिय रहे होंगे। मैं आर्य जनता से आकांक्षा रखता हूं कि इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार करे।

सम्पादक व प्रकाशक भी प्रशंसा के पात्र हैं। मुद्रण-कार्य की कला व शुद्ध छपाई के लिए प्रिंटिंग प्रैस के प्रबन्धकों की विद्वत्ता व जागरूकता का भी आभास होता है।

—सुखबीर सिंह भारद्वाज

आर्य पत्रिकाओं से अपील

श्रद्धेय श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती द्वारा रचित पुस्तक "मानव शरीर और जीवात्मा" को आर्य विद्वानों का पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ है जैसा कि प्रकाशित विद्वज्जनों की सम्मत्तियों से प्रकट होता है। पुनरपि एक विद्वान् श्री राजबीर शास्त्री सम्पादक "दयानन्द-सन्देश" ने पुस्तक की पत्रों व लेखों के द्वारा भरपूर आलोचना की है। श्री राजबीर शास्त्री का अपना पत्र "दयानन्द सन्देश" एक अच्छा साधन है। इस पत्र के द्वारा भी अब अक्तूबर १९८४ के अंक में उन्होंने इस पुस्तक की आलोचना में लिखना आरम्भ किया है। यद्यपि श्री राजवीर शास्त्री की एतद् विषयक मान्यताओं का इस पुस्तक के तृतीय भाग में यथोचित खण्डन हो चुका है, परन्तु फिर भी अपने पूर्व दुराग्रह की पुष्टि में उनकी जो कुछ आपत्तियां प्राप्त हुई हैं, उन पर श्री स्वामी जी ने पर्याप्त सामग्री लिखकर श्री शास्त्री जी की शंकाओं के उत्तर दे दिये हैं।

श्री राजवीर शास्त्री जी से हम न्यायोचित आशा रखते हैं कि वह अपनी आपत्तियों के उत्तर में लिखे श्री स्वामी पूर्णानन्द जी के लेखों को भी साथ-साथ प्रकाशित करायें ताकि निष्पक्ष रूप से पाठक जन सत्य और असत्य का निर्णय कर सकें। इस पुस्तक के प्रमाणों व मान्यताओं का विरोध केवल शास्त्री जी का ही

प्राप्त हो रहा है, क्योंकि उनकी धारणा (पूर्वाग्रह) बहुत पहले से जो बन गई है उसे छोड़ना भी ग्रासान नहीं।

शास्त्री जी को छोड़कर सभी ग्रन्य उच्च कोटि के विद्वान् सन्यासियों का पक्ष पुस्तक के बारे में ग्रनुकूल रहा है। विद्वानों का निर्णय सर्वोपरि है ग्रतः शास्त्री जी को भी स्वीकार करना चाहिये। विद्वानों की इन सम्मतियों को **झूठी चाटुकारिता** तो शास्त्री जी कदापि न समझें। रही शास्त्री जी की ग्रापत्तियां, सो उनका उत्तर पूज्य श्री स्वामी पूर्णानन्द जी ने लिख दिया है।

दयानन्द-सन्देश, वेद - वाणी, परोपकारी, ग्रार्य - मर्यादा 'ग्रार्य सन्देश' तथा 'ग्रार्य-जगत' आदि सभी ग्रार्य पत्रिकाग्रों के सम्पादकों से हम लुधियाना के नवयुवक ग्रपील करते हैं कि हमारी ओर से भी भेजे गये स्वामी जी द्वारा लिखे लेख प्रकाशित कराकर ग्रार्य-जगत की इस आध्यात्मिक गुत्थी को सुलझाने में सहयोगी बनें। इन पत्रिकाग्रों के प्रबन्धकों के हम ग्राभारी रहेंगे। ग्रभी तक "वेद-वाणी" पत्रिका में एक लेख प्रकाशनार्थ भेज दिया है। ग्रन्य पत्रिकाओं को भी ये लेख भेजे जा रहे हैं।

धन्यवाद सहित कृपाकांक्षी

प्रधान—**आर्य युवक सभा, लुधियाना**

श्री सत्येन्द्र शर्मा

(लुधियाना निवासी) द्वारा

अपने पूज्य पिता की

पावन स्मृति में अर्थ-सहयोग

श्री सत्येन्द्र शर्मा (सिल्वो सेल्स कार्पोरेशन लुधियाना) के पिता श्री सहदेव जी आर्य आर्य-ग्रन्थों के प्रेमी और एक निष्ठावान् आर्य, स्वाध्यायशील थे। आर्य-सम्मेलनों एवं उत्सवों में उनकी विशेष अभिरुचि थी। सन् १९८० ई० में स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के गांव मोही में एक आर्य सम्मेलन था जिसमें आर्य समाज दाल बाजार के प्रधान श्री रणवीरजी भाटिया के द्वारा लुधियाना वासियों के आने-जाने का सुप्रबन्ध किया गया था, अतः श्री सहदेव जी ९२-९३ वर्ष की वृद्धावस्था में भी बड़े उत्साहपूर्वक आर्य सम्मेलन में सम्मिलित हुए, क्योंकि ऋषि दयानन्द जी के प्रति उनके हृदय में अपार श्रद्धा थी।

उन्होंने अपने जीवन-काल में हिन्दी बाजार, लुधियाना में आर्य समाज की स्थापना का पुण्य प्रयास किया था। स्व-ज्ञान के अनुसार कर्म करने में वे दृढ़ रहते थे। पूर्ण आयु भोग कर ६-८-८४ को वह बिना किसी कष्ट के अचानक इह-लीला समाप्त करके चले गये।

उनकी पावन स्मृति में श्री सत्येन्द्र जी तथा उनके परिवार ने इस सैद्धान्तिक पुस्तक के प्रकाशन में अर्थ-सहयोग देकर स्वर्गीय पिता जी की स्मृति को स्थायित्व प्रदान किया है। हम आर्य जगत् की ओर से उनके प्रति सादर आभार प्रकट करते हैं।

प्रकाशन कार्य के अर्थ सहयोगी

मे० जे. के. निटवेयर्स
लुधियाना। 500/-

सुराणा इण्डस्ट्रीज़ लुधियाना। 400/-

श्रीमती शान्ता गौड,
द्वारा स्त्री आर्य समाज महर्षि दयानन्द बाजार
(दाल बाजार) लुधियाना। 101/-

श्री विनोद अग्रवाल,
शृंगार साड़ी सैन्टर, प्रकाश मार्कीट,
चौक घण्टाघर, लुधियाना 101/-

श्री सुभाष चन्द कपूर
मे० राम लाल कपूर एण्ड सन्ज
बाजार खरादियां, लुधियाना। 100/-

श्री कमल महाजन
8-A, मोती नगर, लुधियाना। 101/-

श्री महेन्द्र प्रताप आर्य
(मन्त्री युवक सभा) 101/-

मे० शक्ति स्पिनर्स प्रा० लि० 250/-

श्री चन्द्र प्रकाश अरोड़ा
(डान सिलाई मशीन) लुधियाना 101/-

प्रधान आर्य समाज
स्वामी दयानन्द बाजार, लुधियाना 200/-

प्रेरणा-स्वर

वैर को विसार कर, प्रेम को प्रसार कर,
वीरता बगार कर, हिम्मत न हारिए।
काम, क्रोध मद लोभ का प्रचण्ड गढ़,
कर्म-वीर बन ज्ञान गोलों से विदारिए।
जाति का जहाज भव सागर में डूब रहा,
आओ बन्धु! उसे वेद बल्ली से उभारिये।
डींग मत मारिये, कुरीति को निवारिये,
सकल दुख टारिये, सुधर्म ध्रुव धारिये।

प्रेषक—श्री सुधीर भाटिया

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

- पं० श्री राम कुमार आर्य पुरोहित
  आर्य समाज, फील्ड गंज, लुधियाना-141008

- श्री रणवीर भाटिया (प्रधान आर्य स्कूल)
  लिल्ली सिलाई मशीन (रजि०)
  लक्कड़ बाजार, लुधियाना (पंजाब)
  फोन 23620

- श्री यशोवर्धन शास्त्री, आर्य नगर,
  नेहरू रोड, बड़ोत, जिला मेरठ-250611
  (उत्तर प्रदेश)

- श्री रोशन लाल आर्य
  B-X-751, सिविल हस्पताल रोड,
  लुधियाना।